

लेखकीय

(गुजराती का हिन्दी सारांश)

पूर्वकाल में 'आर्नत' नाम से प्रसिद्ध उत्तर गुजरात में स्थित अरावली पहाड़ी प्रदेश में भील आदिवासी बसते हैं। अनेक वर्षों से इस प्राचीन पहाड़ की शिखरावलियों की तलहटियों पर बसते भील आदिवासियों की वैदिक युग से भी पहले की दीर्घ एवं समृद्ध सांस्कृतिक-मौखिक परंपरा है। अतः वर्ष के ऋतुचक्रे अनुसार आते उनके सामाजिक-धार्मिक पर्व-प्रसंगों पर अरावली पार्वतीय प्रदेश का लोकजीवन गीत-संगीत-नृत्य-कथा एवं नाट्यमय बन जाता है। यहाँ ये मौखिक लोकसाहित्य के स्वरूपों को लक्ष्य में रखकर भील आदिवासी समाज-जीवन के संदर्भ में लोकसाहित्यशास्त्र रचा गया है। जो निम्नांकित १२ प्रकरणों में विभाजित है :

१. आदिवासी लोकसाहित्य की पूर्वभूमिका
२. भारतीय प्रशिष्ट साहित्य और आदिवासी लोकविद्या-लोकसाहित्य की प्राचीन पृष्ठभूमि
३. आदिवासी लोकविद्या-लोकसाहित्य के पाश्चात्य अध्ययन की पृष्ठभूमि
४. वर्तमानकालीन भील आदिवासी
५. भील आदिवासी लोकविद्या (फोकलोर)-लोकसाहित्य-लोकगीत
६. भील आदिवासी लोकसंगीत-लोकनृत्य
७. भील आदिवासी लोकनाट्य
८. भील आदिवासी लोकाख्यान
१०. भील आदिवासी लोकमहाकाव्य
११. आदिवासी लोकसाहित्य के संशोधन-संपादन की चुनौतियाँ
१२. उपसंहार एवं उपलब्धियाँ

यह आदिवासी लोकसाहित्यशास्त्र (उत्तर गुजरात के भील आदिवासी समाज-जीवन के संदर्भ में) गुजराती भाषा में रचा गया है।

'आदिवासी लोक' अपनी विशिष्ट भूमि और पर्यावरण में भोगे हुए जीवन के अनुभवों के आधार पर समाज स्वीकृत नीति-नियमों की मर्यादा में रहकर अपनी लोकविद्या (लोकवार्ता-फोकलोर)-लोकसाहित्य का शास्त्र रचता है। जो शास्त्र मौखिक एवं परिवर्तित होता है।

आदिवासी लोकसाहित्य जीवन की समग्रता का साहित्य है। उसके केन्द्र में केवल समष्टि है। अतः शास्त्र 'लोक' में ओतप्रोत है।

व्यक्ति लिखित शिष्ट-प्रशिष्ट साहित्य का मूल्यांकन संस्कृत के आचार्यों-नाट्याचार्यों की रसमीमांसा से करते हैं, कला के उपकरणों से करते हैं। ऐसे साहित्य का विवेचन हो सकता है। जब कि लोकसाहित्य लोक के संस्कृति-समाज के जीवनमूल्यों से आविर्भूत होता है। ऐसे साहित्य का मूल्यांकन समकालीन कला या विवेचन के उपकरणों से नहीं हो सकता। किन्तु, लोक के संस्कृति-समाज के संदर्भ में उसका अध्ययन हो सकता है। तब ही अध्ययन के मानस

में उसके लक्षण-स्वरूप-सिद्धान्त स्पष्ट हो सकते हैं ।

लिखित प्रशिष्ट साहित्यशास्त्र एक व्यक्ति या वैयक्तिक संप्रदाय के द्वारा रचा गया है । किन्तु लोक स्वयं शास्त्र का रचयिता होता है । स्वयं के साहित्य एवं शास्त्र के बारे में अपने ख्याल, मान्यताएँ एवं जीवनदर्शन होता है । अतः हमें लोकसंमत शास्त्र को प्राथमिकता देनी चाहिए और फिर आगे बढ़ना चाहिए । तब ही हम किसी भी प्रदेश के लोक के मौखिक साहित्य को समझ सकते हैं, अध्ययन कर सकते हैं और उसके मौखिक लोकसाहित्य के लक्षण-स्वरूप-सिद्धान्त तय कर सकते हैं । इस दृष्टिकोण को लक्ष्य में रखकर उत्तर गुजरात के भील आदिवासी समाज-जीवन के संदर्भ में 'आदिवासीलोकसाहित्य शास्त्र' की रचना की है ।

लोकसंस्कृति की एक प्रमुख शाखा के रूप में लोकविद्या और उसकी भिन्न भिन्न प्रशाखाओं के रूप में लोकसाहित्य, लोकसंगीत, लोकनाट्य, लोकनृत्य, लोककला, लोकमान्यता इत्यादि तथा लोकसाहित्य के भिन्न भिन्न प्रकार-स्वरूप-जाति-लोकगीत, गीतकथा, कथागीत, लोककथा, लोकमहाकाव्य इत्यादि शब्द-समूह लोकजीवन और उसके विविध स्वरूपों का शास्त्रीय अध्ययन करने के लिए पश्चिम से प्रविष्ट होकर भारतीय लोकविद्या-लोकसाहित्य क्षेत्र में स्वीकृत होकर स्थिर हुए हैं । उसका प्रमुख कारण इस विद्याशाखा लोकविद्या का शास्त्रीय अध्ययन का आरंभ सबसे पहले पश्चिम में हुआ था । 'लोक' - लोक की मौखिक परंपरा और उसके विविध स्वरूपों को समझने में पश्चिम के ये तैयार नामकरण उपयोगी भी हुए हैं । किन्तु, प्रत्येक प्रदेश के इन स्थानिक स्वरूपों के स्थानिक नाम हैं । अग्रताक्रम देकर आरंभ में इन स्वरूपों को उनके सामाजिक संदर्भ में समझने चाहिए । 'लोक' में प्रचलित स्वरूपों के स्थानिक अर्थ को भी ध्यान में रखने चाहिए । जैसे कि खेड़ब्रह्मा-दांता तहसील में बसे भील समाज के ऋतुचक्र एवं जीवनचक्र के मुताबिक आते पर्व-प्रसंगों पर गाए जाते और कहे जाते लोकस्वरूपों 'अरेलो', 'भजनवारता', 'वतांमणां गीतां', 'हगनां गीतां', ओळियो(होली)नां गीतां, दिवालीनां गीतां इत्यादि स्थानिक एवं परंपरित नामाभिधान हैं । उनके स्वरूप की चर्चा, अध्ययन एवं वर्गीकरण करते समय भील 'लोक'में प्रचलित नाम कायम रखने चाहिए और समाजजीवन के संदर्भ में, लोक के अभिप्रेत अर्थ में लोकस्वरूपों को समझने चाहिए ।

भौगोलिक पर्यावरण, समाज एवं जीवन और जगत को देखने का दृष्टिकोण अलग होने से आदिवासी समाज ग्रामीण और नगर समाज से अनेक बाबतों में भिन्न है । अतः भील आदिवासी समाज के बहुत-कुछ नीति नियमों, जीवनमूल्यों, जीवनदर्शन, धर्मदर्शन, सौंदर्यबोध, लोकविद्या-लोकसाहित्य इत्यादि भिन्न होते हैं । अतः यहाँ इन भिन्नता को लक्ष्य में रखकर मौखिक लोकसाहित्य के स्वरूपों की चर्चा की है ।

लिखित साहित्य से भिन्नता दर्शाने के लिए और उसके स्वरूप को समझने

के लिए अन्य मौखिक परंपरा के प्रत्येक साहित्य स्वरूप के आगे 'लोक' शब्द प्रयुक्त होता है। किंतु भील समाज 'लोक' शब्द अन्य ग्राम एवं नगर के लोगों के लिए प्रयोज्यता है और तिरस्कार व्यक्त करने के लिए व्यंग्य में 'लोकां' कहता है। अतः भील गीत अथवा उसके अन्य मौखिक स्वरूप के आगे 'लोक' प्रयोजना उनके सामाजिक संदर्भ में सर्वथा अयोग्य है। अतः अन्य समाज के अध्येता को समझने और अध्ययन करने के लिए भील लोकगीत के लिए बहुवचन में 'भील गीतां', 'भीलोनां गीतो', 'भील समाजनां गीतो' या 'भीलोनां गीतां' शब्दसमूह प्रयुक्त करना योग्य रहेगा।

मौखिक साहित्य की प्रस्तुति के समय गायक-वाहकों को प्रसंग अनुसार कितने ही सामाजिक नियमों का पालन करना पड़ता है। मेले में गाये जाते गीतों का विषय सामाजिक होता है। ऐसे गीतों का उद्देश्य सामूहिक आनंद प्राप्त करना होता है। अतः एक गायक का गीत काटके दूसरा गायक नये गीत का आरंभ कर सकता है। जब कि दिवाली के पर्व पर गाए जाते अरेला (लोकमहाकाव्य से मिलता-झूलता भील लोकसाहित्य का एक प्रकार) का विषय धार्मिक होता है। श्रोता-दर्शक-सहभागी रागिये धार्मिक आस्था से प्रभावित होते हैं। ऐसे समय दूसरा वाहक-गायक नये अरेला का प्रारंभ करेगा तो पहले गाये जा रहे अरेले में आते देवी-देवता के गौरव एवं महिमा को क्षति पहुँचती है और उनका अपमान होता है, वैसा बहुजन समाज मानता है। अतः दूसरा गायक पहले गाये जा रहे अरेला के प्रसंग को काटकर नया अरेला गा नहीं सकता। इस तरह सामाजिक-धार्मिक पर्व-प्रसंगों के अनुसार गाए जाते गीत और मौखिक साहित्य का स्वरूप, विषय के अनुसार उसका नामकरण तथा उसके संलग्न वाद्य एवं नृत्य परंपरा से नियत-निश्चित होते हैं। अतः उनके स्वरूप को समझते समय तथा विषय के अनुसार वर्गीकरण करते समय समाज के अभिप्रेत सामाजिक-धार्मिक बाबतें ध्यान में रखनी चाहिए।

भील आदिवासी समाज में लोकवाद्य संगीत बजाने की केवल भौतिक चीज-वस्तु नहीं है। गायक-कथावाचक साधु के लिए स्वर वाद्य तंबूर जीवित देव जैसा होता है। अतः पर्व-प्रसंग में उपस्थित श्रोता-दर्शकों की आतुरता का अनुभव करके गायक-कथावाचक तंबूर के स्थानक के पास जाता है। फिर वह सोचता है कि तंबूर तो सोया हुआ है। अतः स्थानक से उठाने से पहले साधु तंबूर को जगाने का मंत्र बोलता है। सोये हुए तंबूर को जगाने के अपराध में क्षमा याचता है। इसके बाद तंबूर को नमन करके, मनाने के लिए उसके गौरव और महिमा का मंत्र बोलता है। तंबूर ही अपने स्वरों के माध्यम से कथा में स्थित देवी-देवता के दर्शन कथावाचक एवं श्रोता-भावकों को करवाता है।

प्रशिष्ट साहित्य का वैयक्तिक सृजक अपनी अनुभूतियों से कलाकृति सर्जित करता है। कृति के सृजन के बाद उस में आते पात्रों-चरित्रों को भूल जाता है। समकालीन जीवन के

साथ उसका अनुबंध नहीं रहता । जब कि आदिवासी वाहक गायक-कथावाचक अपनी मौखिक कृति परंपरा से प्राप्त करता है और मानस में स्थिर करता है । यह प्राचीन मौखिक परंपरा उसके सामाजिक-धार्मिक संदर्भ के साथ चित्त में लेकर जीता है । गायक-कथावाचक का चरित्रों-पात्रों के साथ का नाता-संबंध जीवन पर्यंत रहता है । उसके लिए ऐसे दैवी चरित्र सजीव मानवों जैसे होते हैं । वाहक गायक-कथावाचक ऐसे धार्मिक चरित्रों के दुःख से दुःखी और सुख से सुखी होता है । कृति प्रस्तुत करने से ये चरित्र मूर्तरूप धारण करते हैं । और उनके जीवन में घटित करुण घटनाओं से वे दुःखी होते हैं । वे दुःखी होते हैं अतः प्रस्तुत-कर्ता भी दुःखी होता है । अतः ऋतुचक्र के अनुसार आते आदिवासी समाज के धार्मिक-सामाजिक पर्व-प्रसंग के अलावा गायक यह कृति नहीं गाता । पर्व-प्रसंग के वातावरण में सहायक रागियों के सहयोग से उसके चित्त में स्थित कृति समाज के अभिप्रेत अर्थ में मौखिक कलात्मक स्वरूप धारण करती है ।

बहुत बार भील मौखिक लोकाख्यानों में आते देव-देवियों के चरित्रों के साथ वाहक-गायक एवं श्रोताओं का इतनी हद तक तादात्म्य होता है कि गायक-कथावाचक स्वयं वही देवी-देवता बन जाता है और उसकी देह में संबंधित देवी देवता का भाव प्रगट होता है । अतः इकट्ठे हुए लोकसमुदाय को आर्शीवाद भी देता है ।

समाज जीवन के संदर्भ से आती ये सब मानवीय सूक्ष्म बातें लक्ष्य में रखनी चाहिए, फिर कृति के लक्षण - स्वरूप - सिद्धान्त तय करने चाहिए । ये सब मानवीय सूक्ष्म बातें लेखक ने आदिवासी लोकजीवन के साथ ओतप्रोत होकर परखी हैं, फिर आदिवासी लोकसाहित्यशास्त्र रचा है ।

पुस्तक के रूप में प्रगट करने से पहले कला केन्द्र को पुनरावर्तन के लिए यह प्रत लेखक को पुनः देनी होगी । जिससे लेखक जरूरी बातों की पूर्ति कर सके और समय के संदर्भ में बिन जरूरी बातों को निकाल सके ।

ऋण स्वीकार

भारत सरकार, संस्कृति विभाग की श्री टैगोर नेशनल फेलोशिप के अंतर्गत स्कोलरशिप के कार्य के लिए मेरी दो साल की आनंददायक चैतसिक यात्रा के लिए सहयोगी संस्था इन्दिरा गान्धी राष्ट्रीय कला केन्द्र, दिल्ली के पूर्व सदस्य सचिव सुश्री दीपाली कन्ना, वर्तमान सदस्य सचिव श्री सच्चिदानंद जोशी, प्रशासनिक विभाग के निदेशक जयन्ता कुमार रे, सूत्रधार प्रभाग के अंडर सेक्रेटरी हेमलता सिंधुरा, सेक्शन अधिकारी सुनील गोयेल एवं दोनों संस्था (भारत सरकार, संस्कृति विभाग एवं इन्दिरा गान्धी राष्ट्रीय कला केन्द्र) की सर्च-कम-सिलेक्शन कमिटी के सर्व सदस्यों का आभारी हूँ । श्री जयन्ता कुमार का सौजन्य यादगार रहेगा ।

इन दो वर्षों में इन्दिरा गान्धी राष्ट्रीय कला केन्द्र के जनपद संपदा की अध्यक्षता (एच. ओ.

डी) एवं मेरे स्कोलरशिप कार्य की संयोजक सुश्री मौली कौशल का सहयोग अनन्य रहा ।

१९९७ में इन्दिरा गान्धी राष्ट्रीय कला केन्द्र, दिल्ली में यूनेस्को के सहयोग से एक अंतर्राष्ट्रीय परिसंवाद का आयोजन किया था । विषय था, 'कथावाचन और कथावाचक' - 'एक्सप्लेनिंग चैनेटेड नेरेटिव' । इस परिसंवाद में मौलीजी ने मुझे भी आमंत्रित किया था । तब से हमारा परिचय बराबर बना रहा है । उनके मार्गदर्शन एवं निगरानी में और मेरे सहयोग से कला केन्द्र ने उत्तर गुजरात के भील आदिवासियों की रामकथा 'रोम-सीतमानी वारता' का दृश्य-श्रव्य उपकरणों पर दस्तावेजीकरण करवाया है । इसके उपरान्त मेरे द्वारा गुजराती में संपादित 'रोम-सीतमानी वारता' का हिन्दी एवं अंग्रेजी में अनुवाद भी करवाया है । भील आदिवासी समाज की यह बहुआयामी मौखिक लोक संपदा भविष्य के अध्येताओं के लिए अध्ययन का विषय बनेगी । जनपद के लोगों की ओर मौलीजी की संवेदना अत्यन्त सहज एवं गहरी है । 'जनपद के लोक' में जो शुभ है, कल्याणकारी है उसे कला केन्द्रने संयोजे रखा है । संयोजक के रूप में दो वर्षों का उनका साथ मेरे लिए आनंददायक रहा । मैं उनका हृदय से आभारी हूँ ।

जनपद संपदा के सहयोगी शोध अधिकारी श्री रमाकर पंत, हिसाब अधिकारी श्री जयन्त पटर्जी (DEA & st. Ao), सुश्री सुनीता, सुश्री लक्ष्मी रावत आदि को याद करता हूँ ।

समापन में मेरे गुजराती में लिखे आदिवासी लोकसाहित्यशास्त्र के परामर्शक एवं राष्ट्र के ख्यात विद्वान डा. गणेश देवी को याद करता हूँ ।

भगवानदास पटेल

३०४, मिथिला, विजया बैंक के ऊपर,

जजिझ बंगला चार रस्ता, बोडकदेव, अहमदावाद-३८००१५

फोन : ०७९-२६८७१६०४, ०९४२८१०७९

निम्नांकित प्रकरणों का हिन्दी सारांश

१. आदिवासी लोकसाहित्य की पूर्वभूमिका
२. भारतीय प्रशिष्ट साहित्य और आदिवासी लोकविद्या-लोकसाहित्य की प्राचीन पृष्ठभूमि
३. आदिवासी लोकविद्या-लोकसाहित्य के पाश्चात्य अध्ययन की पृष्ठभूमि
४. वर्तमानकालीन भील आदिवासी
५. भील आदिवासी लोकविद्या (फोकलोर)-लोकसाहित्य-लोकगीत
६. भील आदिवासी लोकसंगीत-लोकनृत्य
७. भील आदिवासी लोकनाट्य
८. भील आदिवासी लोकाख्यान
१०. भील आदिवासी लोकमहाकाव्य
११. आदिवासी लोकसाहित्य के संशोधन-संपादन की चुनौतियाँ
१२. उपसंहार एवं उपलब्धियाँ

प्रकरण-१
आदिवासी लोकसाहित्य की पूर्वभूमिका
मानव समाज की विकासयात्रा :

शिकारी जीवन

पुरावस्तुविदों और नृवंशविज्ञानियों को ३० लाख वर्ष पुरावकालीन मानव अस्तित्व के आधार प्राप्त हुए हैं। मानव उसके आरंभ में शिकारी जीवन जीता था। शिकारी जीवन में सरल समाज था। छोटा समूह, सरल कुटुंबव्यवस्था, कम बच्चे, स्थलान्तर, संग्रह का अभाव, बन आधारित जीवन, बटोरकर खाने की जीवनरिति इत्यादि शिकारी जीवन के प्रमुख लक्षण थे। पुरुष को शिकार के लिए बन में सतत भटकना पड़ता था। कुटुंब पर माता का प्रभाव था। अतः समाज में मातृसत्ताक कुटुंब व्यवस्था अस्तित्व में आई थी। मातृसत्ताक समाज व्यवस्था में समस्त सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और धार्मिक सत्ता स्त्रियों के हस्तक थी। स्त्रियाँ ही धार्मिक कार्यो, अनुष्ठानों, विधि-विधानों एवं पूजा करवाती थीं। मातृसत्ताक समाज में स्त्री-देवता की पूजा होती थी। देवियाँ ही समाज का रक्षण करती हैं ऐसा माना जाता था। पूर्वज पूजा अस्तित्व में थी एवं पूर्वज के रूप में स्त्री-देवता थी। पुरुष-वर्ग स्त्रियों से भयभीत रहता था।

उत्तर गुजरात के भील आदिवासी आज भी माता की मृत्यु के बाद उसके फूल (अस्थि) एक कुंभ में रखकर माता को 'पूर्वजदेवी' के रूप में घर में स्थापित करते हैं। यह पूर्वजदेवी 'हीतमाता' के नाम से पहचानी जाती है। भील समाज में आज भी स्त्री देवता की बहुलता है और हीरू, रांपु, टुटी-टावरी, खांडी-खापरी आदि नव लाख देवियों की कल्पना लोकमानस में स्थित है, जो कल्पना पूर्वकालीन भील समाज मातृसत्ताक था उसकी गवाही देती है।

कृषि जीवन

एक स्थान पर रहकर जंगली दाने बोकर खेती करने और खेती में उपयोग करने के लिए जंगली पशु पालने की जीवनरिति का विकास होने के साथ ही मानव समाज का स्वरूप बदलने लगा। भटकने और बटोरकर खाने की जीवनरिति खत्म होने से अनाज और जीवन जरूरी चीजवस्तुओं के संग्रह की आवश्यकता पड़ने लगी। परिणामतः गाँव अस्तित्व में आने लगे। खेती में कठिन परिश्रम के कारण कुटुंब का आर्थिक भार पुरुष पर आने लगा। उसका आर्थिक एवं सामाजिक दरज्जा बढ़ा। कृषिप्रधान समाज में स्त्री की सामाजिक-धार्मिक सत्ता धीरे धीरे क्षीण हो गई और पितृसत्ताक समाज अस्तित्व में आया। परिवार में पहले जो स्थान माता का था वह पिता का हो गया। स्त्री की समग्र बुद्धि और भावना पति एवं बालकों के पालन-पोषण तथा पति की सेवा में केन्द्रित हो गई। खेती और पशुपालन में स्थिरता के कारण जनजातीय

संगठन निर्मित हुआ। फलस्वरूप धीरे धीरे जनजाति या आदिवासी समाज अस्तित्व में आया। इस तरह कुटुंब, वंश, जनजाति, कबीले, गाँव और उसमें से जाति अस्तित्व में आई। ऐसा समाज सगे-संबंधी-रिश्तेदारों के सहयोग से चलने लगा।

भील आदिवासी समाज की लोकविद्या (फोकलोर-लोकवार्ता) - लोकसाहित्य में आज भी शिकारी जीवन याने कि मातृसत्ताक समाज, कृषिजीवन याने कि पितृसत्ताक समाज के लक्षणों के अवशेष प्रतिबिंबित होते हैं जो पूर्वकाल से लेकर वर्तमानकाल तक के मानव समाज के विकास का एक आलेख (चित्र-ग्राफ) देते हैं।

भील लोकसाहित्य के मूल और कुल

ऋग्वेद में आर्य और आर्येतर जाति-प्रजातियों के सामाजिक विकास के अनेक सोपान तथा उनकी संस्कृतियाँ सुरक्षित हैं। ऋग्वेद के रचनाकार पितृसत्ताक समाज व्यवस्था में जीवन व्यतित कर रहे थे परंतु परंपरा से चली आ रही स्मृतियों में पूर्वकालीन मातृसत्ताक समाज व्यवस्था की विशेषताएँ स्थित थीं। जो पास में बसती जातियों के समाजगत लक्षण होने की संभावना है। 'आप मातरः' - ऋग्वेद में माताओं की बहुलता है। इस तरह भीलों के 'देवरानी वारता' में नवलाख देवियों की कल्पना है। अदिति में एक आदिमाता की धारणा है उसी तरह भीलों में अंबावदेवी का प्रमुख स्थान है। जिस तरह अदिति का मातृत्व उसके चरित्र की विशेषता है इस तरह भीलों की चामुंडा या अंबाव के चरित्र की विशेषता भी उनका मातृत्व है। अदिति विश्व-प्रकृति की देवी है, इस तरह अंबाव जल की देवी है, प्रकृति की देवी है। अदिति आदित्यों की माता है तो अंबाव देवों की माता है। अदिति से भव्य आदिमाता की कल्पना अन्यत्र नहीं, जो भीलों की अंबावदेवी के साथ सर्वथा सादृश्यता रखती है। हडप्पामें से जो छोटी छोटी स्त्री-मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं उनके बारे में मार्शल ने प्राग्वैदिक और आर्येतर जातियों की होने का अनुमान किया है।

'देवरानी वारता', 'कोबरिया ठाकोरनी वारता', 'धरण ने मनखा अवतारनी वारता' जैसी भीलों की मौखिक परंपरा की पुराकथाओं (मिथ्स) के अध्ययन से पता चलता है कि कितने परिवर्तनों के साथ ये कथाएँ वेदों में प्रविष्ट हुई हैं और अदिति तथा आदित्यों की कथाओं के नाम से लिखित रूप प्राप्त किया है।

प्रकरण-२

भारतीय प्रशिष्ट साहित्य और आदिवासी लोकविद्या-लोकसाहित्य की प्राचीन पृष्ठभूमि

यज्ञों के समय गाए जाते वेदमंत्रों के काव्य-प्रकार

यज्ञों के अवसर पर लोकसमुदाय इकट्ठा होता था। एक ओर मनीषी विद्वान ऋषि वेदमंत्रों का पाठ करते थे और दूसरी ओर सहृदय सूत-कुशीलव गाथा, आख्यान, पुराण, इतिहास कहते थे तथा गान करते थे। गाथा, आख्यान, पुराण आदि में कल्पना-कथाओं का मुक्त विकास रहता था जब वेदमंत्रों में पाठ और गानपद्धति नियत रहती थी।

यज्ञों के प्रसंग पर गाये जाते वेदमंत्र उस समय की कविता के भिन्न भिन्न प्रकार थे। इस समय जिन काव्यों या कविता का गान होता था उसमें अर्क, वाणी, उकथ, स्तोम-स्तोत्र, मंत्र, मन्म, मति, श्लोक, सूक्त, स्तुति, ब्रह्म आदि प्रमुख थे। ये काव्यरूप वैदिकयुग में प्रचलित थे। (इनकी विस्तृत चर्चा प्रकरण-२ में की गई है।)

आख्यान, इतिहास और पुराण

यज्ञ में जहाँ एक ओर वेदमंत्र पढ़े जाते थे तो दूसरी ओर गाथा, आख्यान, इतिहास, पुराण आदि कहे जाते थे। एक आख्यान में अनेक उपाख्यान सम्मिलित किए जाते थे। रामायण, महाभारत जैसे महाकाव्यों की रचना और उनके पाठ यज्ञ की धार्मिक-सामाजिक-सांस्कृतिक कार्यवाही, क्रियाकांड और अनुष्ठान का ही अंग है, जो लिखित रूप है। वहाँ इकट्ठा होता लोकसमुदाय उसमें सहभागी होता था। व्यासपीठ पर विराजित होकर कथा कहते उग्रश्रवा और लोमहर्षण जैसे सूतों का उल्लेख महाभारत में मिलता है। ये सूत ब्राह्मण नहीं थे। शतपथ में जिस परंपरा का उल्लेख है, यज्ञों में - अनुष्ठानों में आख्यान सुनाना, वह परंपरा महाभारत काल से सांप्रत काल तक चली आ रही है। भील आदिवासियों के साधु-भोपा (ओझा) महामार्गी पाट और कोबरिया ठाकुर के धार्मिक पाट के प्रसंग पर 'रूपाराणी', 'तोळीराणी' जैसे आख्यान के उपरान्त उनमें प्रचलित 'भारथ' (भीली महाभारत), 'रोम-सीतमा' (भीली रामायण) की पंखुड़ियाँ (प्रसंग घटनाएँ) आज भी लोकसमुदाय के सांनिध्यमें गाते हैं और कहते हैं तथा श्रोता-दर्शक सहभागी होते हैं।

वैदिक और आदिवासी 'लोक' एवं साहित्य

शतपथ ब्राह्मण के वर्णन से पता चलता है कि यज्ञ के वार्षिक सत्रों में ब्राह्मण उपरान्त राक्षस, नाग, निषाद जैसी जाति-प्रजाति तथा सर्पविद्, पक्षीविद्याविद् जैसे लोकविद्याविद्-लोकज्ञानविद् इकट्ठे होते थे और उनके संमिलन एवं आंतरसंबंधों से लोकविद्या (फोकलोर) परंपरा और लोकसंस्कृति पुष्ट और समृद्ध होती थी।

भीलों की वर्तमान लोकविद्या (लोकवार्ता) का अध्ययन करने से पता चलता है कि उनका धार्मिक साहित्य वैदिक गान की तरह अनुष्ठान संलग्न होता है और योग्य स्वर भार के साथ लय में गाया एवं कहा जाता है। भूत-प्रेत निकालने की 'रेड़ी' सामगान से मिलती झूलती है। सांप्रत में होते मैले-चोखे (अशुद्ध-शुद्ध) धार्मिक अनुष्ठानों में पूर्वकालीन यज्ञ-संस्कृति के विविध विधि-विधानों के मूल देख सकते हैं।

भीलों के धार्मिक अनुष्ठान के समय गाई जाती सृष्टि (पृथ्वी) की उत्पत्ति-कथा में पिप्पलाद ऋषि, धौम्य ऋषि, गौतम ऋषि इत्यादि ऋषि के उल्लेख आते हैं। इन ऋषि में से बहुत से ऋषि आर्यों के चारों ओर बसती निषाद-पुल्लिंद-किरात आदि जाति के होने की संभावना है। नवपाषण्युग-पाँच हजार वर्ष पहले भारतीय उपखंड में 'निषाद' प्रजा बसती थी। वेदों में भी इस जाति का उल्लेख निषाद नाम से हुआ है। निषाद ही आज के भील हैं वैसा डी.डी. कोसाम्बी और रोबर्ट शेफर जैसे इतिहासविद् दृढ़तापूर्वक मानते हैं। वेद साहित्य, उसमें भी अथर्ववेद की रचना में ऐसे आर्येतर ऋषि सहभागी हुए होने की संभावना है।

वाल्मीकि की भाषा गायकों की लोकभाषा है। वाल्मीकि ने रामायण की रचना लोक में प्रचलित कथाओं के आधार पर की है। उन्होंने रामायण कुशीलवों को सिखाया। कुशीलवों ने गाकर ग्रामजनों को सुनाया। इस तरह रामकथा दूर दूर अंदरूनी ग्रामप्रदेशों में पहुँची। इस परंपरा का अनुसरण महाभारत में भी है। व्यास ने लोक में से महाभारत को संपादित किया है। सूतों ने यज्ञ की महासभाओं में महाभारत सुनाया। रामायण ग्रामजनों के लिए और महाभारत महासभा के लिए होने के कारण दोनों की कथन रीति में फर्क है। रामायण गाने के लिए तो महाभारत कहने के लिए है। कथनरीति और भाषा की दृष्टि से दोनों लोकसाहित्य से ज्यादा नज दीक हैं। महाभारत में तो अनेक लोककथा-लोकाख्यान प्रविष्ट हुए हैं।

बृहत्कथा

रामायण-महाभारत के बाद भारतीय कथा साहित्य को प्रभावित करनेवाला और आधार देनेवाला महाग्रंथ 'बृहत्कथा' है। बृहत्कथा का संकलन-संपादन-सृजन गुणाढ्य ने लोक में प्रचलित मौखिक साहित्य और पैशाची प्राकृत में किया है।

संस्कृत काव्यशास्त्रियों की दृष्टि से लोकविद्या

संस्कृत काव्यशास्त्र के आचार्य भरत, राजशेखर, विश्वनाथ आदि ने लोकधर्मी काव्य प्रवृत्तियों का विस्तार से उल्लेख किया है।

नाट्य शास्त्र में भिन्न भिन्न अध्यायों में उस समय की लोकप्रचलित गान-शैलियों, भाषारूपों, परंपराओं, लोकविश्वासों तथा काव्यरूपों का उल्लेख मिलता है।

राजशेखर ने तंत्रानुष्ठान के महत्त्व को स्वीकार किया है, जो लोकविद्या का एक प्रमुख अंग है।

राजशेखर ने कवि के लिए अलग अलग शास्त्र उपरान्त लौकिक काव्य का ज्ञान आवश्यक माना है। भरत मुनि के बाद संस्कृत काव्यशास्त्र में राजशेखर एक ऐसे आचार्य हैं जिनकी साहित्य-विवेचन की दृष्टि सर्वाधिक लोकोन्मुखी रही है।

प्राचीन साहित्य में लोकतत्त्व

लोकगीतों के बीज 'ऋग्वेद' में मिलते हैं। पद्य या गीत के अर्थ में 'गाथा' शब्द का प्रयोग ऋग्वेद के अनेक मंत्रों में मिलता है। गायक के अर्थ में 'गाथिन' शब्द का प्रयोग ऋग्वेद में हुआ है।

धार्मिक रीति-रिवाजों तथा यज्ञों के अवसर पर भिन्न भिन्न विधियों के समय जो कथागीत गाए जाते थे, वे वैदिक साहित्य में 'रैभी' और 'नाराशंसी' के नाम से प्रसिद्ध हैं। इन गाथाओं की वेदों-उपनिषदों से लेकर महाकाव्यों और पुराणों तक अटूट परंपरा मिलती है।

प्राचीनकाल में कोई राजा के सदकृत्य को लक्ष्य बनाकर जो लोकगीत समाज में प्रचलित होते थे तथा 'लोक' द्वारा गाए जाते थे वे बाद में लिखित साहित्य में 'गाथा' नाम से अलग स्वरूप के रूप में स्वीकार किए गए।

भारतीय प्रेमाख्यानों के बीज तथा सूक्तियों के उदाहरण वेदों में संवाद सूक्तों के रूप में प्राप्त होते हैं। पुरुरवा-उर्वशी का प्रसिद्ध प्रेमाख्यान भारतीय कथा-वार्ता का प्राचीनतम उदाहरण माना जाता है। लोकोक्तियाँ तथा पहेलियाँ वेदों और उपनिषदों में अनेक स्थानों से प्राप्त होती हैं। अश्व का बलि चढ़ाने से पहले होता और ब्राह्मण परस्पर ब्रह्मोदय पूछते थे जो उस समय की पहेलियाँ थीं। महाभारत में यक्ष-युधिष्ठिर के संवाद में प्राचीन पहेलियों के दर्शन होते हैं।

लोकविद्या के स्वरूप-लोकगीत, लोकगाथा, प्रेमाख्यान, लोकोक्ति, पहेली आदि भारतीय परंपरा में कितने प्राचीन हैं उनको प्रमाणित करने के लिए 'लोक' शब्द का प्रयोग वैदिक साहित्य से खोजा गया है। कुछ विद्वानों का मानना है कि भारतीय संस्कृति में लोक शब्द इतना प्राचीन है जितना वेद शब्द। ऋग्वेद तथा अथर्ववेद में दिव्य और पार्थिव इन दोनों अर्थों में लोक शब्द का प्रयोग किया गया है। उसका एक विशेष अर्थ वेदविरोधी भी किया जाता है। उस समय से 'लोक' और 'वेद' दो अलग परंपराएँ शुरू हुई होंगी।

पंडित बलदेव उपाध्याय का मत है कि 'अथर्ववेद' लोकसंस्कृति का, तो 'ऋग्वेद' शिष्ट संस्कृति का परिचय करवाता है।

लोक शब्द का अर्थ विस्तार 'इहलोक' और 'परलोक'-अनंत हो सकता है, किन्तु शास्त्रीय विवेचन के लिए उसकी धारणा सुनिश्चित करना जरूरी है। अंग्रेजी शब्द 'फोक' के अर्थ में 'लोक' शब्द का प्रयोग अर्वाचीन है। अतः इस शब्द को नये संदर्भ में देखना चाहिए। समाज, साहित्य और इतिहास की तरह सांस्कृतिक चढ़ाव-उतार में लोकविद्या का स्वरूप बदलता रहता

है। अतः परिवर्तनशीलता में इसका अध्ययन-विवेचन किया जाना चाहिए।

भारत में लोकविद्या की सामग्री जितनी प्राचीन है, उसका अध्ययन उतना ही आधुनिक है। उसकी वर्तमान सामग्री का इतिहास अंतिम ढाई-तीन सौ वर्षों से पुराना नहीं है। आदिवासी और ग्रामीण लोकविद्या-लोकसाहित्य की सामग्री का शास्त्रीय अध्ययन का आरंभ सबसे पहले पश्चिम से हुआ है। जिसकी चर्चा प्रकरण-३ में की गई है।

प्रकरण-३

आदिवासी लोकविद्या-लोकसाहित्य के पाश्चात्य अध्ययन की पृष्ठभूमि

‘भील आदिवासी लोकसाहित्य-शास्त्र’ (भील आदिवासी लोकसाहित्य-विज्ञान) की विभावना स्पष्ट करने के लिए और उनके मूलभूत और आनुषंगिक लक्षणों को स्पष्ट करने के लिए उसके संपादन के आरंभ के इतिहास को जानना जरूरी है। इस विद्याशाखा के विद्वान लोकसंस्कृति की एक शाखा के रूप में लोकविद्या (Folklore-लोकवार्ता) और लोकविद्या की एक प्रशाखा के रूप में लोकसाहित्य का अध्ययन करते हैं। लोकविद्या और लोकसाहित्य का शास्त्र या विज्ञान के रूप में अध्ययन करने का आरंभ यूरोपीय देशों में हुआ था। अतः आरंभ में उसके संपादन-अध्ययन की पृष्ठभूमि स्पष्ट करना आवश्यक है।

सर्व साधारण लोगों की जीवनरिति, मान्यता, आस्था, कामण-टूमण, जादू-टोटके, प्रथा-परंपरा, धर्म इत्यादि विषयों के संपादन-संशोधन-अध्ययन की ओर सबसे पहले ध्यान यूरोपीय विद्वानों का गया था। इस विषय के बारे में जॉन आब्रे और रेवरेन्ड हेनरी बॉर्न का नाम लिया जाता है। इ.वी. १७४६ में रेवरेन्ड हेनरी बॉर्न ने ‘एन्टिक्स ऑव धी कॉमन पिपल’ शीर्षक से एक ग्रंथ प्रकाशित किया था। उसका उद्देश्य रोमन केथोलिक विश्वासों का संग्रह करने का था। इस समय लोकविद्या का अर्थ था, जिनमें प्राचीन इतिहास स्थिर हुआ है ऐसे लोकप्रचलित या लोकप्रिय पुरावशेष - ‘एन्टिक्विटिज़’। इन पुरावशेषों के संशोधन और अध्ययन से राजा, राजवंशों, सामंतों, युद्धों और उनके गौरवगान आदि से हटकर इतिहासकारों, संशोधकों, चिंतकों और साहित्यकारों का ध्यान सर्वप्रथम सर्वसामान्य लोगों, उनके दुःख दर्द, समस्याएँ, अधिकारों-इत्यादि पर गया। हररोज की इन लोगों की यातनाएँ एवं समस्याओं के सामने जूझने में मौखिक परंपरा की रंगदर्शी लोककथाएँ, पुराकथाएँ, लोकगीतों, लोकनृत्यों इत्यादि और उनके संलग्न पर्व-प्रसंग प्रेरक बनते हैं इसका खयाल आया।

इसके उपरान्त १८वीं शताब्दी में नई दुनिया की खोज करने के प्रयत्नों के कारण यूरोपीय जातियों का विश्व की अन्य सभ्यताओं तथा आदिवासी संस्कृतियों के साथ संपर्क बढ़ा। परिणामतः उनकी राष्ट्रीय भावना सविशेष विकसित हुई। यूरोप के विद्वान अपनी जाति और राष्ट्रीयता अन्य की राष्ट्रीयता से श्रेष्ठ सिद्ध करने के लिए स्थान-स्थान से पुरावशेषों और मौखिक साहित्य संपादित करके प्रसिद्ध करने लगे। इन लोकप्रिय पुरावशेषों-पौप्युलर एन्टिक्विटिज़ में लोकविद्या की विविध सामग्री उपलब्ध थीं। इसके कारण यूरोप के विद्वानों को प्राचीन भाषा के अध्ययन, तुलनात्मक भाषाशास्त्र, पूर्वकालीन आदिजातियों (आदिवासी) और सांस्कृतिक नृवंशशास्त्र-समाजशास्त्र, इतिहास इत्यादि विषयों के संशोधन और अध्ययन में रुचि बढ़ी।

परिणाम स्वरूप अस्त हुई संस्कृतियों के अवशेषों की खोज होने लगी। जैसे जैसे अध्ययन तलस्पर्शी और सघन बनने लगा वैसे वैसे इन भौतिक एवं मौखिक लोकसंपदा के आधार पर सांस्कृतिक नृवंशविज्ञान, मानवसमाजविज्ञान, भाषाविज्ञान, मनोविज्ञान इत्यादि भिन्न-भिन्न विद्याशाखाएँ स्पष्ट होने लगीं। अध्ययन आगे बढ़ने से लोकविद्या (फोकलोर) और लोकसाहित्य (फोकलिटरेचर) भी स्वतंत्र शास्त्र या विज्ञान के रूप में विकसित होने लगा।

जर्मनी में सबसे पहले जैकब ग्रिम (ई.१७८५-१८८३) तथा विल्हेम ग्रिम (ई.१७८६-१८५९)-दोनों बंधुओं ने व्यवस्थित रूप में परीकथा-पुराकथा (मिथ) और लोककथा का संपादन करके लोकविद्या-लोकसाहित्य की शास्त्रीय नींव डाली। उन्होंने लोककथा-पुराकथा का वैज्ञानिक विश्लेषण-वर्गीकरण करके व्याख्याएँ देने का प्रयत्न किया। अतः ग्रिम बंधुओं को लोकसाहित्य के शास्त्रीय अध्ययन के प्रथम आरम्भक कह सकते हैं।

ई.१८४६ में इंग्लैन्ड के पुरावस्तुविद् विलियम जॉन टॉमसने इस विषय के लिए 'फोकलोर' शब्द सूचित किया था जो आज तो विश्व के बहुत से देशों में इस विद्याशाखा के अध्ययन के लिए स्वीकृत हुआ है।

ई.१८६६ में सर्वप्रथम इंग्लैन्ड में 'फोकलोर सोसायटी' की स्थापना की गई। उसकी विश्वविख्यात 'पत्रिका' 'फोकलोर' इस विषय के अध्ययन के लिए प्रमुख केन्द्र बनी।

१९वीं सदी के अंत तक लोकविद्या (लोकवार्ता) की सामग्री का योग्य परीक्षण करने के लिए कुछ प्रमुख सिद्धान्त तय किए गये। इन सिद्धान्तों को उनके संबंधित संप्रदायों के साथ जोड़े गये। प्रमुख संप्रदाय इस प्रकार हैं : (१) नृतात्त्विक या नृवंश संप्रदाय (२) पुराकथामूलक (धर्मगाथामूलक) संप्रदाय (३) ऐतिहासिक संप्रदाय (४) समाजशास्त्रीय संप्रदाय (५) मनोवैज्ञानिक संप्रदाय इत्यादि। डॉ. सत्येन्द्र ने अपनी पुस्तक लोकसाहित्यविज्ञान के प्रकरण-४ में इन संप्रदायों की विस्तृत चर्चा की है।

१९वीं-२०वीं सदी में इस विषय में एडवर्ड टेलर, एंड्रयु लेंग, जेम्स फ्रेज़र, मेक्सम्यूलर, आल्बर्ट वेसेल्स्की, वाय.एम. सोकोलोव, थियोडोर बेन्फे, कार्ल कोहन, एंटी आर्ने, एक्जिल ओलरिक, फ्रान्सिस चार्डल्ड, वी.एफ. मिलर, व्लादीमीर, प्रोप्प, फ्रान्ज़ बोआस, डोरसन, आर्चर टेलर, स्टिथ थोमसन आदि लोकविद्याविदों का योगदान महत्त्वपूर्ण है।

२०वीं सदी के प्रारंभ के ५० वर्ष लोकविद्या के शास्त्रीय अध्ययन और वैज्ञानिक प्रतिष्ठा के लिए महत्त्वपूर्ण हैं। लोकविद्या को एक स्वतंत्र विषय के रूप में मान्यता इस वर्षों में मिली। उपरान्त उसकी शास्त्र या विज्ञान के रूप में स्थापना इस शताब्दी में हुई। २०वीं शताब्दी में जर्मनी, स्पेन, नोर्वे, स्वीडन, फिनलैन्ड, रशिया, अमरिका जैसे देशों में लोकविद्या विषयक प्रवृत्तियाँ विशेष सक्रिय और प्रमुख बन गईं। २०वीं शताब्दी में लोकविद्या के अध्ययन का क्षेत्र

लोक के रीति-रिवाज, जीवनरीति इत्यादि सीमाओं से आगे बढ़कर लोकसाहित्य के विविध प्रकार पर केन्द्रित हुआ। उसके बाद लोकनृत्य, लोकसंगीत, लोककला आदि लोकसंस्कृति के विविध अंगों तक विस्तृत हुआ। उसका अध्ययन लोकसाहित्य के प्रकार-कथागीत, गीतकथा (बेलेड) आदि से आगे बढ़कर लोककथा-पुराकथा-लोकमहाकाव्यों के अध्ययन तक विस्तीर्ण हुआ। जिस पर विश्व के प्रमुख लोकविद्याविदों (फोकलोरिस्टस) ने विचार किया। इस सदी में संपादन कार्य के साथ साथ सामग्री की समुचित परिभाषाएँ भी की गईं। अब इसके विश्लेषण को प्राथमिकता दी जा रही है।

लोकविद्या का अध्ययन उत्तरोत्तर शास्त्रीय (वैज्ञानिक) रूप धारण कर रहा है। उसकी स्वतंत्र सत्ता स्पष्ट हुई है। लोकविद्या की सामग्री को लोकविद्याशास्त्र से अलग कर दी गई है। उसका विषय-वस्तु जो लोकविद्या (फोकलोर) कहा जाता है तो उसके विवेचन के शास्त्र को लोकविद्याविज्ञान-लोकविद्याशास्त्र (फोकलोरिस्टिक्स) कहा जाता है। इस दिशा में अमरिकी विश्वविद्यालयों ने अधिक योगदान दिया है।

लोकविद्या की परिभाषाएँ-धारणाएँ

क्रेप्प ने लोकविद्या के ऐतिहासिक पक्ष को महत्त्व दिया है और उसे एक विज्ञान या शास्त्र के रूप में प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया है।

टेलर का मत है कि लोकविद्या का व्यावर्तक लक्षण पारंपरिक होना है। ख्यात लोकविद्याविद् आर्चर टेलर ने लिखा है कि “लोकविद्या की सामग्री मौखिक रूप से, रीति-रिवाजों से तथा व्यवहार द्वारा प्रत्येक पीढ़ी में हस्ततरित होती है। यह सामग्री लोकगीत, लोककथा, पहेली या लोकोक्ति हो सकती है, या शब्दों में सुरक्षित कोई दूसरा उपादान भी। यह सामग्री परंपरित औजारों, भौतिक वस्तुओं, अलंकारणों, प्रतीकों तथा विश्वासों के रूप में हो सकती है।”

टेलर की परिभाषा संक्षिप्त होते हुए भी सारगर्भित है और विदेशों के अनेक विद्वान स्वीकारते हैं।

अमरिकी लोकविद्या संपादक बेंजामिन वोटकिन ने १९५४ में इस विषय के लिए अपने विचार व्यक्त किए हैं कि सारा नगर ही जनता (लोक) है और जहाँ जनता है वहाँ लोकविद्या भी मिलेगी। अर्थात् परंपराओं का समूह, प्रतीक, पुराकथाएँ, लोककथन इत्यादि जो किसी स्थान की जीवन पद्धति में जड़ पकड़े हुए हों, वह सब लोकविद्या है। जहाँ कहीं लोकविद्या मिलेगी वहाँ लोकसमूह भी मिलेगा। लोकसमूह मनुष्यों का कोई भी ऐसा समूह हो सकता है, जिसकी एक समान जीवन की पृष्ठभूमि हों, एक समान अनुभव एवं रूचियाँ हों !

‘फोकलोर’ शब्द पर विचार

‘फोकलोर’ सामासिक शब्द है, और दो शब्द मिलकर बना है। एक ‘फोक’ और दूसरा ‘लोर’

। 'एनसाईक्लोपीडिया ब्रिटानिका' में 'फोक' शब्द का अर्थ ग्रामीण लोकसमुदाय ही किया गया है। डॉ. बार्कर ने 'फोक' शब्द की व्याख्या करते हुए लिखा है कि "फोक शब्द से दूर रहनेवाली कोई सारी जाति का बोध होता है परंतु उसका विस्तृत अर्थ लिया जाय तो कोई सुसंस्कृत राष्ट्र के सभी लोक का सूचन होता है।

नृवंशविज्ञान के अध्ययन की जैसे जैसे प्रगति होती गई उसके साथ 'लोक' शब्द का अर्थ विकसित होता गया है। आरंभ में समाज-संस्कृति के पिछड़े हुए या आदिवासियों के बाद कृषक और ग्रामीण लोकसमुदाय के अर्थ में भी 'लोक' शब्द प्रायोजित हुआ। अब नृवंशविज्ञानी मानते हैं कि लोकमनोवृत्तिवाले समुदाय एक ओर ग्रामीण क्षेत्रों में निवास करते हैं तो दूसरी ओर नगरों में भी रहते हैं।

केलिफोर्निया के प्रो. एलन डंडेस ने आधुनिक संदर्भ को ध्यान में रखकर कहा है कि "लोक" शब्द मनुष्यों का कोई भी ऐसे समूह का सूचन करता है कि जिसमें समानता का कोई न कोई आधार हों। यह समान आधार उसका कोई एक धर्म हो सकता है किन्तु सबसे महत्त्व की बात यह है कि वह समूह की कितनी अपनी परंपराएँ हों।... जो परंपराएँ समूह को एकता के सूत्र में बाँध सके।

भारतीय दृष्टिकोण

भारत में 'लोक' के बारे में दो प्रकार की धारणाएँ हैं। कितनी परिभाषाएँ या धारणाएँ आदिवासी, ग्रामीण और नगर के विस्तार के भेद पर आधारित हैं तो कितनी भारतीय संदर्भ में यह भेद स्वीकारती नहीं हैं। पहले प्रकार की परिभाषा के प्रतिपादक उड़ीसा के प्रसिद्ध लोकविद्याविद् डॉ. कुंजबिहारीदास इत्यादि हैं तो दूसरी धारणा के पुरस्कर्ता डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी, डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल, डॉ. सत्येन्द्र आदि विद्वान हैं।

डॉ. कुंजबिहारीदास अपनी पुस्तक 'ए स्टडी ऑव ओरिजिन फोकलोर' में 'लोक' शब्द के अंतर्गत उन लोगों का समावेश किया है जो सभ्य समाजों के प्रभावों से बाहर रहकर आज भी आदिम अवस्था में जीवन बिता रहे हैं। डॉ. कुंजबिहारीदास का संकेत आदिवासी लोकजीवन की ओर है।

हिन्दी में लोकविद्याविद् डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल ने सबसे पहले 'फोकलोर' के लिए लोकवार्ता शब्द प्रायोजित किया था जो आज स्वीकृत होकर रूढ़ बन गया है।

डॉ. अग्रवाल भूमि संबंधित ग्राम अथवा जनपद के प्रत्येक निवासी को 'लोक' मानते हैं। जनपदीय अध्ययन का मूल आधार वह जनता है जो हमारे सब विचारों के केन्द्र में प्रतिष्ठित है। तत्सम्बन्धी अध्ययन करने के लिए तीन मार्ग बतलाते हैं जो इस प्रकार हैं :

१. भूमि और भूमि से सम्बन्धित वस्तुओं का अध्ययन।

२. भूमि पर बसने वाले जन का अध्ययन ।
३. जन की संस्कृति या जीवन का अध्ययन ।

(पृथ्वीपुत्र, डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल, १९६०, पृ.८५)

गुजराती में फोकलोर के पर्याय के रूप में 'लोकविद्या' शब्द कवि उमाशंकर जोशी ने 'लोकसाहित्यमाळा' के प्रथम 'मणके' के संपादन के समय प्रयुक्त किया था ।

फोकलोर का दूसरा शब्द 'लोर' (Lore) एंग्लोसेक्शन लार (Lar) शब्द से निकला है । जिसका अर्थ है परंपरा से सीखा हुआ ज्ञान या विद्या । इस प्रकार फोकलोर का साधारण अर्थ है परंपरा में से सहज रूप में प्राप्त ज्ञान, विद्या या जानकारी ।

लोकविद्या लोकजीवन में ओतप्रोत ऐसी विद्या है, जिसमें लोककारीगरी, लोकवेशभूषा, लोककला, लोकविश्वास, लोकोपचार, रीति-रिवाज, प्रथा-परंपरा, कहावतें, दंतकथाएँ, पर्व-प्रसंगों, जादू, मंत्र, लोकनृत्य, लोककथा, लोकगीत इत्यादि को अपने में समाहित करती है । आदिमानव की आरंभ से लेकर आज तक की मानवजातियों की बुद्धि की नैसर्गिक, सहज और प्रत्यक्ष अभिव्यक्तियाँ लोकविद्या में देख सकते हैं । इस तरह लोकविद्या मानवजाति के युगों से होते आये अनुभवों और जानी हुई बातों की धरोहर है । यह विद्या पीढ़ी दर पीढ़ी परंपरा में से अनुकरण द्वारा चली आ रही है । यह परंपरित लोकविद्या में 'लोकमानस' प्रतिबिंबित होता है । लोकविद्या की अभिव्यक्ति स्थानिक लोकबोली में होती है । अतः उसमें स्थानिक लोकसंस्कृति झलकती है । शिक्षा और टेक्नोलोजी के विकास के कारण लोकविद्या लिखित रूप में भी प्राप्त होती है । लोकविद्या में बनों, ग्रामों और नगरों में बसे लोकसमुदाय की सांस्कृतिक विशेषताएँ विद्यमान रहती हैं ।

'फोकलोर' की इक्कीस जितनी व्याख्याएँ देने के पश्चात् मारीआ लीचने अपनी 'डिक्शनरी ऑव फोकलोर' में लोकविद्या की एक सर्वांग संपूर्ण परिभाषा देने की असमर्थता प्रगट की है ।

'लोक' याने कि जिसमें आदिवासी (जन), ग्रामजन और नगरजन - ये तीन इकाइयाँ समाविष्ट हैं, वैसा एक निश्चित सांस्कृतिक क्षेत्र का वैविध्यसभर लोकसमुदाय । ये तीन इकाइयों की सहभागिता, जीवनदृष्टिकोण और जीवनदर्शन में से 'लोक' और संस्कृति आविर्भूत हुए हैं । लोक का परंपरागत और मौखिक ज्ञान या विद्या ही लोकविद्या (लोकवार्ता-Folk-lore) ।

कितनी समानता के बीच में भी 'लोक' के इन तीन रूपों की जीवनरीति एवं परंपरा में बहुत कुछ भिन्नता भी है । लोकविद्याविज्ञान (Folkloristics) का स्वरूप निश्चित हुआ इस में इन तीनों स्रोतों में से विशेष रूप में सामग्री आदिवासी और ग्रामीण जीवनरीति में से ही प्राप्त हुई है । आदिवासी धारा ही प्रकृति से अधिक निकट है और जीवन एवं जगत को देखने-समझने एवं अनुभव करने का दृष्टिकोण ग्राम एवं नगरजीवन के 'लोक' की दृष्टि से विशेष सहज, आवरण

रहित एवं निर्दभ है। आदिवासी संस्कृति सिर्फ वर्तमान समय का व्यवहार एवं चिंतन की प्रथा ही नहीं, वह परंपरा भी है। अतः उसके लोकमहाकाव्यों एवं पुराकथाओं में बहुत कुछ अत्यन्त प्राचीन, मूलगामी एवं बहुमूल्यवान भी स्वतः रक्षित हुआ है। आदिवासी मौखिक धारा पर प्रशिष्टीकरण का असर बहुत ही कम पड़ा है। इसलिए किसी भी प्राचीन रूप को देखना-परखना हो, किसी आदि स्रोत को मूलरूप में समझना हो तो आदिवासी धारा की सामग्री ही विशेष उपयोगी एवं निर्णायक बन सकती है।

‘लोक’ शब्द लिखित रूप में भले ही ऋग्वेद के पुरुषसूक्त से प्राप्त हुआ हो किन्तु उसकी जड़ें तो वेदों से भी पूर्व पृथ्वी के साथ जुड़ी हुई हैं। और उसकी शाखा-प्रशाखाएँ आज दिन तक वन-उपवन, ग्राम तथा नगर-दूरदूर तक फैली हुई हैं। ‘वेद’ को शिष्ट साहित्य भले ही माना गया हो किन्तु उसमें आते यम-यमी, पुरुरवा-उर्वशी जैसे संवादसूक्त और धार्मिक अनुष्ठान ‘लोक’ में से ही प्रविष्ट हुए हैं और उसकी शाखा-प्रशाखाओं के दर्शन आज भी इस शोधार्थी द्वारा संपादित ‘भील लोकमहाकाव्य : राठोरवारता’, ‘डुंगरी भीलोनों गुजरांनो अरेलो’, ‘रोम सीतमानी वारता’ और ‘भीलोनुं भारथ’ में होते हैं। पुरुरवा-उर्वशी का कथाघटक भील लोकमहाकाव्य : राठोरवारता की ‘पँखुड़ी’ (प्रसंग) ‘धांधलराजा और हीरापथ अप्सरा’ में देख सकते हैं, नृसिंह का कथाघटक गुजरांनो अरेलो की ‘वाघजी’ की ‘पँखुड़ी’ में देख सकते हैं। ‘पूर्वकालीन मातृसत्ताक समाज व्यवस्था के दर्शन रोम सीतमानी वारता, भीलोनुं भारथ, गुजरांनो अरेलो और राठोरवारता में होते हैं।

किसी भी जाति या लोक की मौखिक परंपरा को उसके प्रागितिहास-इतिहास और उसके सांप्रत समय के सामाजिक-धार्मिक जीवन के संदर्भ में ही समझ सकते हैं। अतः भील आदिवासी मौखिक लोकसाहित्य को तलगामी परिवेश में समझने के लिए आगे ‘उत्तर गुजरात की प्रागैतिहासिक संस्कृति और भील सभ्यता’ तथा ‘समकालीन भील आदिवासी’ शीर्षक के अंतर्गत अध्ययन किया गया है। उसका कुछ अंश आगे दिया गया है।

प्रकरण-४

वर्तमानकालीन भील आदिवासी

उत्तर गुजरात की प्रागैतिहासिक संस्कृति और भील सभ्यता

खेड़ब्रह्मा तहसील उत्तर गुजरात के साबरकांठा जिले की ईशान दिशा में स्थित है। प्राचीन काल में 'आनर्त' के नाम से प्रसिद्ध इस प्रदेश में फैले दुनिया के एक प्राचीन पहाड़ अरावली की शिखरावलियों की तराई में भारत की एक पूर्वकालीन जाति डुंगरी भील आदिवासी विकेन्द्रित रूप में बसते हैं। परापूर्व से बसी इस प्रजाति की वैदिकयुग से भी प्राचीन दीर्घ और अत्यन्त समृद्ध सांस्कृतिक परंपरा है।

नृवंशविज्ञान और भाषाशास्त्र के संशोधनों ने यह स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है कि भारत की प्राचीनतम जातियों में कितनी प्राक्-द्राविड़ी तथा आदि-ओस्ट्रेलोइड जातियाँ हैं। आदि-ओस्ट्रेलोइड जाति को आदि आग्नेय या 'निषाद' भी कहते हैं। रोबर्ट शेफर दृढ़तापूर्वक निषादों को भीलों के पूर्वज मानते हैं। डी.डी. कोसाम्बी भी भीलों को आर्यपूर्व समुदाय की जाति मानते हैं। जिसका जिक्र पहले भी किया गया है।

वेदों में इस प्रजाति का उल्लेख 'निषाद' नाम से हुआ है। पुरावस्तुविदों का मानना है कि निषाद या भील १० हजार वर्ष पहले भारत में बसते थे।

भीलों में 'कौबरिया ठाकुर' की 'कोळी' का अनुष्ठान, महामार्गी पाट का अनुष्ठान, देवरा के 'रातीजगा' का अनुष्ठान जैसे 'मैले-चोखे' (अशुद्ध-शुद्ध) धार्मिक अनुष्ठानों के समय ताजा अंगारे 'थापळा' की वेदी पर रखकर आटे (लोट), चावल या चूरमे का यज्ञ (होम) करने की परंपरागत विधि है। इस समय सृष्टि की उत्पत्तिकथा के मंत्र गाये और कहे जाते हैं। इन पुराकथाओं (मिथ्स) और मौखिक महाकाव्यों में 'पीपळ रखी' (पिप्पलाद ऋषि), धूम रखी (धौम्य ऋषि), गोतम रखी (गौतम ऋषि) आदि ऋषियों का उल्लेख आता है। भीलों के आज के ये विधि-विधानों के चरणचिह्न ताम्राश्मकाल (ताम्र और पाषाणकाल) की संस्कृति, करीब तीन हजार से छः हजार वर्ष तक जाने का संभव है। 'गोर' के उत्सव के समय की जाती 'लिंगपूजा', देवरा की मूर्तियों की प्रतिष्ठा के समय की जाती 'सर्पपूजा' और बड़ी 'न्यात' की समाप्ति के समय की जाती 'वृक्षपूजा' के मूल ताम्राश्मकाल की संस्कृति-समाज से भी आगे जाने का संभव है।

भील, भारत की पूर्वकालीन (प्राचीन) जातियों में महत्त्व की प्रजाति मानी जाती है। ये आदिवासी ही भारत के मूल निवासी हैं। ये जातियाँ आदिकाल से यहाँ बसती होने से उनको 'आदिम जाति' या 'आदिवासी' ऐसा नाम दिया गया है।

भारतीय सभ्यता के विकास में ये आदि-निषादों या भीलों का विशेष योगदान रहा है। गुजरात के उत्तरी-पूर्वी और भारत के मध्य उपखंड में बसे इस लोकसमुदाय ने ही यहाँ नवपाषाणयुग

की सभ्यता-समाज का विकास किया है। इस सभ्यता ने ही आदियुग से भारतीय संस्कृति के निर्माण में महत्त्व का योगदान दिया है। विवाह और धार्मिक विधि-विधानों में हलदी और सिंदूर का उपयोग, जादू और टोने में विश्वास, वृक्षपूजा, सर्पपूजा और लिंगपूजा, मृत्यु के बाद आत्मा का अस्तित्व तथा आत्मा का दूसरी योनि में जन्म धारण करना, कूर्म आदि अवतार कथाएँ, सृष्टिरचना के बारे में कल्पित कथाएँ (जिसमें कितने विचार ऋग्वेद के नासदीय सूक्त के साथ मिलते हैं), अंडे में से विश्वरचना जैसी कथाएँ निषाद या भीलों की भेंट है। ये कथाएँ बाद में पौराणिक हिन्दूधर्म में स्वीकृत हुईं और कितने परिवर्तनों के साथ पौराणिक कथाएँ बन गईं। भीलों की वर्तमान जीवनरिति और उनके धार्मिक अनुष्ठान तथा विधि-विधानों के साथ जुड़ी पुराकथाएँ और मौखिक महाकाव्यों के अध्ययन से भी इन अनुमानों के आधार प्राप्त कर सकते हैं।

३२५०-२७५० ई.पू. में सिंधुघाटी की सर्वांग सभ्यता का विकास हुआ था। यह सभ्यता गुजरात के 'लोथल' तक फैली थी। यहाँ से प्राप्त कंकालों के शोध-अनुसंधान के आधार पर पता चला है कि सिंधुघाटी की नगरसंस्कृति में द्रविड़ों के अलावा निषाद और किरात प्रजातियाँ भी बसती थीं। अतः साधार अनुमान कर सकते हैं कि सिंधुघाटी की सभ्यता के विकास में नवपाषाणयुग के निषाद लोगों का भी महत्त्व का योगदान रहा होगा। इस युग के लोग पशुपालक और कृषक थे।

भारत का दक्षिणी पठार और राजस्थान-उत्तर गुजरात का अरावली पहाड़ विश्व का प्राचीन भूमिखंड है। ये दोनों भूभाग में से प्राचीन पाषाणयुग की संस्कृति के निशान प्राप्त होते हैं। इस भूभाग को प्राचीन भारतीय संस्कृति का उद्भव-स्थान कह सकते हैं।

आर्यों को द्रविड़, पुलिंद, निषाद या भील जैसी आर्येतर संस्कारी प्रजा के पास से जो विरासत प्राप्त हुई थी वह हिन्दूधर्म की धार्मिक, सामाजिक और सांस्कृतिक नींव मान सकते हैं। सूचित किया है कि सृष्टि की उत्पत्ति और अवतारकथा जैसे भारत के पौराणिक कथानक, कर्म और पुनर्जन्म के विचार, सर्प-वृक्ष-लिंग पूजा, 'होम' की वैदिक विधि से भिन्न हिन्दू उपासना-पूजाविधि आदि के मूल आर्येतर प्रजा में हैं। इन अनुमानों के आधार भीलों की वर्तमान जीवनरिति, पुराकथा और मौखिक महाकाव्यों के अध्ययन से मिलते हैं।

समकालीन हिन्दूधर्म का स्वरूप प्रमुखतः आर्य और द्रविड़, निषाद या भील जैसी आर्य तथा आर्येतर संस्कृतियों-सभ्यताओं के मिलन और योगदान का मंगलदायी परिणाम है। हिन्दूधर्म का यह समन्वयीरूप, प्रागैतिहासिक सभ्यता से आरंभ होकर ताम्राश्म, ऐतिहासिक और स्वतंत्र भारत की वर्तमान सभ्यता तक अभिन्न रहा है, इस बात के आधार उत्तर गुजरात के अरावली पहाड़ी प्रदेश में विकीर्ण प्रागैतिहासिक सांस्कृतिक संपत्ति और भील समाज-संस्कृति के शोध-

अनुसंधान और अध्ययन से मिलते हैं ।

वर्तमानकालीन भील आदिवासी

आदिवासी लोकसाहित्य की पृष्ठभूमि को विशदता से स्पष्ट करने के लिए सांप्रत समयके भील आदिवासियों के सामाजिक-धार्मिक जीवन का अध्ययन किया गया है । मानवशास्त्र और समाज शास्त्र के शोध-अनुसंधान से अब तक यह पूरा क्षेत्र अछूता है । अतः इस शोधार्थी ने विगत २५ वर्षों से भील समाज को नजदीक से देखा है, परखा है । वर्ष के ऋतुचक्र के मुताबिक आते सामाजिक-धार्मिक पर्व-प्रसंगों में सहभागी होकर लिखी दो पुस्तकें 'डुंगरी भील आदिवासीओं' और 'आदिवासी ओळख' के आधार पर 'आदिवासी मौखिक साहित्य की पृष्ठभूमि' के अंतर्गत वर्तमानकालीन भील आदिवासी समाज का अध्ययन किया है ।

पूर्वकालीन आदिवासी समाज आदि - स्त्री-पुरुष पूर्वज के वंश से विकसित होकर कुटुंब-कुल-गोत्र के रूप में विकेन्द्रित गाँवों में फैलता है । यह सरल समाज कुल या गोत्र के सगे-संबंधियों से बनता है । अतः जंगल, जमीन और जल के स्रोतों का अधिकार वैयक्तिक न होकर स्त्री-पुरुष से बने पूरे समाज का होता है ।

पूर्वजप्रेम, पूर्वजपूजा और पूर्वज की ओर सम्मान की भावना होने से पूर्वजों की धरती की फसल और धरती बेच नहीं सकते । किन्तु पूर्वज और गोत्रदेवी-देवता की पूजा करके भेंट चढ़ाने के बाद फसल का समूह में उपयोग-उपभोग हो सकता है । पूर्वजों ने धरोहर में दी धरती से प्राप्त चीज-वस्तुओं का विनिमय होता है किन्तु बेची नहीं जाती ।

आदिवासी समाज सहकार और सहभागिता की नींव से आविर्भूत होने से समाज की प्रत्येक जीवनरीति और क्रिया-कलापों में सहभागिता और सहयोग के दर्शन होते हैं । इस समाज में जन्म से लेकर मृत्यु तक की प्रत्येक सामाजिक और धार्मिक प्रवृत्तियाँ सहयोग से की जाती हैं । एक ही वंश, कुल या गोत्र के रिस्तेदारों से रचित यह समाज या 'लोक' घर एक-दूसरे के सहकार से रचते हैं, योगक्षेम की प्रवृत्तियाँ जैसी कि खेती-कृषि और पशुपालन एक दूसरे के सहयोग से करते हैं और शिकार भी सामूहिक ढंग से करते हैं । शत्रु और आपातकालीन परिस्थितियों का सामना भी सामूहिक रूप में करते हैं । आदिवासी समाज में समान जीवनरीति वाले अनेक गोत्र होते हैं । इन गोत्रों में सहयोग की भावना प्रबल होती है । अतः अन्य गोत्र के लोगों के हमले के समय समान गोत्र के सदस्य सामूहिक रूप में प्रतिकार करते हैं और एक-दूसरे का रक्षण करते हैं ।

ये सजातीय गोत्रवाला लोकसमुदाय सामाजिक-धार्मिक पर्व-प्रसंग, धार्मिक अनुष्ठान और सामाजिक विधि-विधान, देव-देवी पूजा, पूर्वजपूजा और वृक्षपूजा सामूहिक रूप से सहभागी होकर करते हैं । पर्व-प्रसंगों के साथ जुड़े गीत-नृत्य समूह में गाते हैं और करते हैं । आदिवासी जीवन की प्रत्येक सामाजिक-धार्मिक प्रवृत्तियाँ और क्रियाकलापों में आबाल-वृद्ध स्त्री-पुरुषों

का सहयोग और साजेदारी अभिन्न होती है।

आदिवासी लोकजीवन में सामाजिक-आर्थिक ऊँच-नीच के स्तर नहीं होते। यह समानता और समतावादी समाज है। अपनी जाति में ही बर्हिगोत्र विवाह प्रथा अस्तित्व में होने से आदिवासी समाज में एकता बनी रहती है।

एक निश्चित भूभाग में बसते, एक ही भाषा-बोली बोलते, सुरक्षा के लिए संगठित रहते, स्वतंत्र अर्थव्यवस्था और समान भावनावाले, स्वायत्त समाज और विशिष्ट संस्कृति वाले इस सरल समुदाय में पूर्वज या वंश का प्रभुत्व धीरे धीरे बढ़ता जाता होने से आज तो आदिवासी समाज में पुरुषसत्ताक परिवार व्यवस्था अस्तित्व में आई है। फिर भी भील समाज में स्त्री-पुरुष की सहभागिता अखंड बनी रही है। अतः पुरुष के अहं से स्त्री के व्यक्तित्व का हनन नहीं हुआ है।

भील आदिवासी सांप्रत समाज पितृसत्ताक, पितृवंशी और पितृस्थानी होते हुए भी स्त्री का स्थान ऊँचा है। पुत्रीजन्म के अवसर पर पुत्रजन्म समान ही खुशी व्यक्त करने के लिए झालर और ढोल बजाकर नृत्य किया जाता है और परिवार में गुड़ बाँटा जाता है।

भील परिवार में बिना लिंग भेद ही कन्या का लालन-पालन किया जाता है। समाज में 'कन्या शुल्क' की प्रथा होने से बहुत से प्रसंगों में कन्या को अधिक स्नेह दिया जाता है।

विवाह के अवसर पर कन्या के पिता को दिया जाता 'कन्याशुल्क' न हो तो पति को ससुरगृह जाकर कृषि का काम करना पड़ता है। 'कन्याशुल्क' के बराबर मजदूरी हो जाने के बाद ही पिता अपनी पुत्री का विवाह दुलहे के साथ रचाता है।

प्रत्येक सामाजिक विधि में स्त्री, पुरुष के समान ही सहभागी होती है। पुत्री या पुत्र की मंगनी माता की संमति बिना तय नहीं होती। विवाह के अवसर पर माता के 'सामैये' (परछाने) के बिना विवाह संपन्न नहीं होता। पितृगृह से प्राप्त भेंट पर स्त्री का अधिकार होता है।

भील आदिवासियों में बहुपत्नीत्व की प्रथा अस्तित्व में होने से पत्नियों के मुताबिक जमीन-जायदाद बाँटी जाती है। सामाजिक सम्मान की दृष्टि से पति के लिए पत्नी कीर्ति है, आबरू है।

सम्बन्ध विच्छेद के बाद भी स्त्री बच्चों की देख-भाल करने के लिए पुराने पति के घर भी आती-जाती रहती है। नया पति उसका विरोध नहीं करता।

विधवा हो जाने के बाद भी भील स्त्री अपने मूल पति के घर दूसरा पति ला सकती है और सामाजिक-आर्थिक अधिकार प्राप्त करके घर की स्वामिनी बन सकती है। नये पति को यौन संबंध स्थापित करने और संतानों को पालने के अलावा कोई विशेष अधिकार प्राप्त नहीं होता। महामार्गी धार्मिक पाट के अनुष्ठान में स्त्री गुरु के स्थान पर होती है। सभा को उसका आदेश स्वीकार्य होता है।

धार्मिक-सामाजिक पर्व-प्रसंगों और विधि-विधानों में स्त्री और पुरुष का सहयोग दर्शनीय

होता है ।

उत्तर गुजरात के भील आदिवासी सांप्रत समाज में पितृवंशी, पितृसत्ताक और पितृस्थानी परिवार व्यवस्था अस्तित्व में होते हुए भी ग्राम और नगरीय समाजों की स्त्री की तुलना में आदिवासी स्त्री अधिक स्वतंत्र है । वह नागरिक (शिष्ट) पितृसत्ताक समाज की तरह कृत्रिम सामाजिक बंधनों से लदी हुई नहीं है । उसके स्वायत्त व्यक्तित्व का प्रभाव पुरुषप्रधान समाज पर भी व्याप्त है ।

प्रकरण-५

भील आदिवासी लोकविद्या (फोकलोर)

लोकसंस्कृति की एक प्रमुख शाखा के रूप में लोकविद्या और उसकी भिन्न भिन्न प्रशाखा के रूप में लोकसाहित्य, लोकसंगीत, लोकनाट्य, लोकनृत्य, लोककला, लोकमान्यता इत्यादि तथा लोकसाहित्य के भिन्न भिन्न प्रकार-स्वरूप-जाति-लोकगीत, गीतकथा, कथागीत, लोककथा, लोकमहाकाव्य इत्यादि शब्द-समूह लोकजीवन और उसके विविध स्वरूपों का शास्त्रीय अध्ययन करने के लिए पश्चिम से प्रविष्ट होकर भारतीय लोकविद्या-लोकसाहित्य क्षेत्र में स्वीकृत होकर स्थिर हुए हैं। उसका प्रमुख कारण इस विद्याशाखा लोकविद्या का शास्त्रीय अध्ययन का आरंभ सबसे पहले पश्चिम में हुआ था। 'लोक'-लोक की मौखिक परंपरा और उसके विविध स्वरूपों को समझने में पश्चिम के ये तैयार नामकरण उपयोगी भी हुए हैं। किन्तु, प्रत्येक प्रदेश के इन स्थानिक स्वरूपों के स्थानिक नाम हैं। अग्रताक्रम देकर आरंभ में इन स्वरूपों को उनके सामाजिक संदर्भ में समझने चाहिए। 'लोक' में प्रचलित स्वरूपों के स्थानिक अर्थ को भी ध्यान में रखने चाहिए। जैसे कि खेड़ब्रह्मा-दांता तहसील में बसे भील समाज के ऋतुचक्र एवं जीवनचक्र के मुताबिक आते पर्व-प्रसंगों पर गाये जाते और कहे जाते लोकस्वरूपों 'अरेलो', 'भजनवारता', 'वतांमणानां गीतां', 'हगनां गीतां' ओळियो (होली) नां गीतां, दिवालीनां गीतां इत्यादि स्थानिक एवं परंपरित नामाभिधान हैं। उनके स्वरूप की चर्चा, अध्ययन एवं वर्गीकरण करते समय भील 'लोक' में प्रचलित नाम कायम रखने चाहिए और समाजजीवन के संदर्भ में लोक के अभिप्रेत अर्थ में लोकस्वरूपों को समझने चाहिए।

आदिवासी समाज-संस्कृति और लोकविद्या अन्य ग्रामीण एवं नगर की सांस्कृतिक एवं सामाजिक धारा से भिन्न है। आरंभ में भील आदिवासी लोकविद्या की एक शाखा लोकसाहित्य के एक प्रकार लोकगीत के स्वरूप पर चर्चा कर रहे हैं।

लोकगीत से भील गीत की भिन्नता

लोकसाहित्य एक विशिष्ट भूभाग पर बसती जाति-समाज के लोक के सामाजिक-धार्मिक-आर्थिक प्रयोजन के लिए स्थानिक बोली-भाषा में से स्वरूप धारण करता है। ऐसा साहित्य सामाजिक संस्कार और धार्मिक अनुष्ठान संलग्न होता है। और विधि-विधान के साथ क्रियाशील होकर पर्व-प्रसंग पर 'लोक' के मुख से अभिव्यक्त होता है। सामुदायिकता, सहयोग और सहभागिता भील लोकसाहित्य के आधिकारिक प्रमुख लक्षण हैं। ऐसा भील साहित्य व्यक्तिज जीवन को समाज जीवन में स्थिर करने के लिए सहायक होता है। इस लोकसाहित्य में लोक को अभिप्रेत जीवन और जगत को जानने का दर्शन होता है। अतः भील समाज की सांस्कृतिक

बाबतें आत्मसात् न की जाय तब तक अन्य समाज के व्यक्ति को कुछ प्राप्त नहीं होता है तथा समाज और उसके साहित्य को समझने में गलत अर्थघटनों की संभावना रहती है।

गुजराती लोकसाहित्य की प्रमुख धारा में जिसको 'लोकगीत' कहते हैं उसे भील समाज 'गीतां' कहता है। दैनिक व्यवहार की बोली-भाषा में गीत का बहुवचन 'गीतां' कहा जाता है। उसका प्रमुख कारण भील समाज में निजानंद के लिए या समाज से बाहर के अन्य व्यक्ति के आनंद या प्रयोजन के लिए 'एकल-दोकल' गीत गाया नहीं जाता, लोकवाद्य बजाया नहीं जाता और नृत्य भी नहीं किया जाता। गीत समूह में लोक के सामाजिक-धार्मिक प्रयोजन अथवा समूह में आनंद के लिए गाए जाते हैं। उसका आरंभ चाहे एक व्यक्ति के द्वारा होता हो, किन्तु समाज के आवश्यक संघोर्मि के रूप में प्रगटता है। ऐसे गीत ऋतुचक्र के मुताबिक आते पर्व-प्रसंग के वातावरण में सारे दिन या पूरी रात अनेक संख्या में गाए जाते हैं। अतः भील समाज उनको बहुवचन में 'गीतां' कहता है और भील समाज की मौखिक परंपरा में 'गीतां' नामकरण रूढ़ हुआ है। बिना पर्व-प्रसंग गीतां गाने की प्रथा भील समाज में नहीं है।

भील गीतां की दूसरी विशेषता या लक्षण यह है कि प्रत्येक पर्व-प्रसंग में गाये जाते गीत का स्वरूप और उसके संलग्न वाद्य परंपरा में नियत होता है। मेले में ढोल संलग्न 'गोठिया' (प्रणय गीत) के गीत गाने का रिवाज है। इस सामाजिक प्रसंग पर सांग नामक तालचर्मवाद्य संलग्न धार्मिक गीत गाने का निषेध है। अगर कोई व्यक्ति इस नियम का भंग करता है तो समाज के कोप और दंड का भोग बनता है।

मौखिक साहित्य की प्रस्तुति के समय गायक-वाहकों को प्रसंग अनुसार कितने ही सामाजिक नियमों का पालन करना पड़ता है। मेले में गाये गीतों का विषय सामाजिक होता है। ऐसे गीतों का उद्देश्य सामूहिक आनंद प्राप्त करना होता है। अतः एक गायक का गीत काटके दूसरा गायक नये गीत का आरंभ कर सकता है। जबकि दिवाली के पर्व पर गाए जाते अरेला (लोकमहाकाव्य से मिलता-झूलता भील लोकसाहित्य का एक प्रकार) का विषय धार्मिक होता है। श्रोता-दर्शक-सहभागी रागिये धार्मिक आस्था से प्रभावित होते हैं। ऐसे समय दूसरा वाहक-गायक नये अरेला का प्रारंभ करेगा तो पहले गाये जा रहे अरेले में आते देवी-देवता के गौरव एवं महिमा को क्षति पहुँचती है और उनका अपमान होता है, वैसा बहुजन समाज मानता है। अतः दूसरा गायक पहले गाये जा रहे अरेला के प्रसंग को काटकर नया अरेला गा नहीं सकता। इस तरह सामाजिक-धार्मिक पर्व-प्रसंगों के अनुसार गाए जाते गीत और मौखिक साहित्य का स्वरूप, विषय के अनुसार उसका नामकरण तथा उसके संलग्न वाद्य एवं नृत्य परंपरा से नियत-निश्चित होते हैं। अतः उनके स्वरूप को समझते समय तथा विषय के अनुसार वर्गीकरण करते समय समाज के अभिप्रेत सामाजिक-धार्मिक बाबतें ध्यान में रखनी चाहिए।

लिखित साहित्य से भिन्नता दर्शाने के लिए और उसके स्वरूप को समझने के लिए अन्य मौखिक परंपरा के प्रत्येक साहित्य स्वरूप के आगे 'लोक' शब्द प्रयुक्त होता है। किंतु भील समाज 'लोक' शब्द अन्य ग्राम एवं नगर के लोगों के लिए प्रयोज्य है और तिरस्कार व्यक्त करने के लिए व्यंग्य में 'लोकां' कहता है। अतः भील गीत अथवा उसके अन्य मौखिक स्वरूप के आगे 'लोक' प्रयोजना उनके सामाजिक संदर्भ में सर्वथा अयोग्य है। अतः अन्य समाज के अध्येता को समझने और अध्ययन करने के लिए भील लोकगीत के लिए बहुवचन में 'भील गीतां', 'भीलोनां गीतो', 'भील समाजनां गीतो' या 'भीलोनां गीतां' शब्दसमूह प्रयुक्त करना योग्य रहेगा।

स्वरूप-लक्षण

गेय तत्त्व भीलों के गीतों का प्रमुख आधिकारिक लक्षण है। किन्तु गेयता की अनुभूति के लिए भील समाज के अपने स्वयं के खयाल हैं। तीव्र-मीठे-मधुर स्वर उनको प्रिय नहीं हैं। मुख्य गायक के तीव्र स्वर सहायक गायक एवं श्रोताओं को पसंद नहीं आते। वे गाते गाते और सुनते सुनते ऊब जाते हैं। उनको गाने-सुनने में आनंद नहीं आता। वे मुख्य गायक को बीच में रोकते हुए कहते हैं, 'झाड़ा भारी रागे गाक'ला (गाक'ली) मेघ ओझ झेंणो झेंणो धधम ! (मारी राग में गा। मेघ की तरह धीमे धीमे गरज !) समाज में गीत प्रवीण गायक के लिए 'हाकरियां गीतोनो गितारियो पाई या हाकरियां गीतांनी गीतारी बाई (मिश्री जैसे मीठे गीतों को गानेवाला भाई या बहन) कहा जाता है। तब उनके मन में मेघ, नगाड़ा या ढोल जैसे घोर-गंभीर स्वर अभिप्रेत हैं।

गीत तो परंपरा में पहले से ही गायक-वाहक के चित्त में स्थित होता है परंतु गीत गाने के आरंभ से पहले सहायक गायकों या रागियों द्वारा भरी जाती किलकारियाँ गीत के स्वरूप को प्रगट करने में सहायक होती हैं। किलकारियाँ प्रमुख गायक को उत्तेजित करती हैं और उसे गीत गाने के लिए शूर चढ़ता है। भिन्न भिन्न प्रसंगों पर भरी जाती किलकारियों के भाव और अर्थ भिन्न भिन्न होते हैं। शिकार को मारने के आवेश में से आविर्भूत किलकारियाँ क्रोध का भाव प्रगट करती हैं। गोत्र गोत्र के बीच होती चढ़ाई (सरेतरूं) के समय जन्मती किलकारियाँ ललकार के भाव प्रगट करती हैं। ऋतुचक्र और जीवनचक्र के अनुसार आते धार्मिक-सामाजिक पर्व-प्रसंगों पर ढोल के नाद-ताल के साथ होते नृत्यों के समय की जाती किलकारियाँ, हर्षावेश के ध्वनि-संकेतों को सूचित करती हैं। इन विविध क्रोध, हर्षावेश या दुःख के ध्वनि-संकेतों की सामूहिक किलकारियाँ, वाणी का स्वरूप लेकर, प्रसंग या घटना के अनुसार विविध अर्थ धारण कर गीत में परिणमती हैं तथा सामूहिक देह का लय धारण कर ढोल-सांग चर्मवाद्य के नाद-ताल-संगीत के साथ नृत्य में परिवर्तित होती हैं।

सिर्फ गेय किलकारियों के प्रकार की चर्चा की जाय तो भी प्रेम के गीत, बैर (शत्रुता) के गीत,

खून-हत्या या पराक्रम के गीत की किलकारियाँ अलग अलग प्रकार की होती हैं। किलकारियाँ भरते समय मुख में से प्रगटते स्वरघोष के साथ चहेरे पर प्रगटते भावों में गीत मुताबिक भिन्नता होती है। वीर रस के गीत में बुलंद कंठ-स्वर के साथ गीत का आरंभ, ललकार भरी किलकारियाँ, गायक का तलवार के झटके का अभिनय (तलवारे झटकावो'ला किरिया!) इत्यादि क्रियाकलापों के द्वारा वीररस गायक-दर्शक सहभागी रागियों के हृदय में साधारणीकरण प्राप्त कर सजीव हो उठता है। 'फटाणां' जैसे लग्नगीतों में शृंगार की किलकारियाँ आह्लाद के साथ प्रगट होती हैं और साधारणीकरण प्राप्त कर शृंगारस में परिवर्तित होती हैं।

इस तरह गीतों के पूर्वकालीन स्वरूप के बारे में विचार करने पर समझ सकते हैं कि लोकवाद्यों के द्वारा पहले स्वर प्रगटते हैं। ये संगीत के स्वर सामूहिक देह को लय के साथ क्रियाशील करके नृत्य का स्वरूप देते हैं। नृत्य का आनंद किलकारियाँ प्रगटाता है और किलकारियाँ सार्थक गेय शब्दों के साथ गीत में परिवर्तित होती हैं। इस तरह भील गीत के स्वरूप के प्रमुख लक्षण गेय संगीत एवं नृत्य हैं। गेयता-संगीत और नृत्य भील समाज के गीत के प्राणभूत तत्त्व हैं। ये तत्त्व ही गीत को वाचिक आकार में बाँधकर प्रगट करने में सहायक होते हैं।

धार्मिक साहित्य-गीत, कथागीत, लोकाख्यान, लोकमहाकाव्य जैसे मौखिक स्वरूप तो गायक-वाहक के चित्त में पहले से ही स्थित होते हैं। उनको बाहर लाने में सामाजिक-धार्मिक पर्व-प्रसंगों का वातावरण उद्दीपक का काम करता है।

भील गीत लोकवाद्य, लोकनृत्य उपरान्त लोकनाट्य संलग्न भी होते हैं। 'गोर', 'गणगोर', 'होली' जैसे पंद्रह दिन चलते लोकोत्सवों में लोकनाट्य संलग्न गीत प्रस्तुत किए जाते हैं। ऐसे गीत लोकनाट्य के आरंभ, मध्य या अंत में गाए जाते हैं।

कोबरिया ठाकुर का अनुष्ठान मैला होता है। उस समय पशुबलि चढ़ाया जाता है। इसके साथ गेय लोकाख्यान और लोकमहाकाव्य जुड़े हुए होते हैं। इनके बीच बीच में मारी होंक सोरु रोवें, 'कोवरली सम बोले', 'झमझम सरियो वेंसुरलो' जैसी रचनाएँ लोकगीत ही हैं। इनमें अक्षुण ऊर्मिशीलता होती है। इनके प्राण लोकगीत के होते हैं। ये गीत ऊर्मिगीतों के कुल के होते हैं। थाली जैसे गोल ताल चर्मवाद्य 'सांग' की संगत में गाए जाते ये गीत नृत्यगीत होते हैं।

धार्मिक गीत

प्रकार

विषय की दृष्टि से भील समाज के गीत दो विभागों में बाँट सकते हैं : (१) सामाजिक गीत और (२) धार्मिक गीत। धार्मिक गीतों में (१) होली के गीत (२) गोर के गीत (३) दिवाली के गीत (४) वतांमणां (मैली मनौती) के गीत (५) हग (शुद्ध मनौती) के गीत (६) कोबरिया

ठाकुर (मैला देव जो पशुबलि लेता है) के गीत (७) देवरां के ठाकुर के गीत इत्यादि गीतों का समावेश होता है। ऐसे गीत धार्मिक पर्व-प्रसंगों संलग्न होते हैं।

सामाजिक गीतों में (१) गोठिया-गोठण (प्रेमी-प्रेमिका के प्रणय के गीत) के गीत, (२) ईलो (लोरी) (३) लगनगीत, (४) मेले के गीत (५) राती जगे के गीत (६) तेळखी के गीत - इत्यादि गीतों का समावेश होता है। ऐसे गीत जीवनचक्र के अनुसार आते सामाजिक पर्व-प्रसंगों के संलग्न होते हैं। सामाजिक गीत सांप्रत में घटित घटना-प्रसंगों के आधार पर रचे जाते हैं। ऐसे गीतों के रचयिता भील समाज में ख्यात होते हैं। समाज के लोग उनको जानते हैं।

धार्मिक गीत का स्वरूप-लक्षण

धार्मिक गीतों में देवी-देवताओं की उत्पत्ति, साहस और वीरता भरे कार्य तथा उनकी महिमा गाई जाती है। ऐसे गीत पूर्वकालीन होते हैं। पुराकथाएँ (मिथ्स), लोकाख्यानों, लोकमहाकाव्यों की तरह अनेक वर्ष पहले उन गीतों के पाठ मौखिक परंपरा में स्थिर और रूढ़ हो चुके होते हैं। वर्तमान समय में ऐसा धार्मिक साहित्य रचा जाता नहीं है। अतः सामाजिक गीतों की तुलना में धार्मिक गीतों की संख्या अल्प होती है।

लोकाख्यानों या लोकमहाकाव्यों की तरह ऐसे गीत धार्मिक पर्व और अनुष्ठान संलग्न होते हैं। कौबरिया ठाकुर की कोळी के अनुष्ठान के प्रसंग पर गाये जाते गीत मंत्रों के संलग्न होते हैं। गीतों में आते प्रसंग-घटना-चरित्रों के साथ पूर्वकाल से ही सारे समाज के 'लोक' की अटूट आस्था जुड़ी हुई होती है। समाज गीतों में आते घटना-प्रसंग-चरित्रों को सत्य मानता है। अतः ऐसे प्रसंग-घटना-चरित्र पुराकथा का रूप लेकर देवत्व प्राप्त करके लोक के सामूहिक मानस में स्थिर होते हैं। अतः नियत हुए पाठको घटाया-बढ़ाया या नवसर्जित नहीं किया जाता। धार्मिक-गीतों में नवसृजन का अवकाश न होने से उनके पाठांतर नहीं मिलते। अतः वर्तमान में नया सृजक भी बन सकता नहीं है। धार्मिक साहित्य का वाहक-गायक कथक मिलता है। वाहक-गायक ऐसा धार्मिक साहित्य मौखिक परंपरा के जानकार वाहक कथक के पास से अनुकरण द्वारा बाल्यावस्था-किशोरावस्था से ही मौखिक रूप में प्राप्त करने लगता है और बड़ा होने पर यह पूर्वकालीन मौखिक परंपरा उसके सामाजिक-धार्मिक संदर्भ के साथ चित्त में लेकर जीता है। पर्व-प्रसंग के वातावरण में सहायक रागियों के सहयोग से उसके चित्त में स्थित कृति मौखिक कलात्मक स्वरूप धरती है। कौबरिया ठाकुर की कोळी के अलावा भील गीतों के संलग्न कोई वाद्य जुड़ा नहीं होता। वाद्य की संगत के बिना गीत का लघु स्वरूप उत्सव-प्रसंगों के उल्लास भरे वातावरण में नृत्य के साथ सहज याद रह जाने के कारण समाज में गीतों के गायक-वाहकों की संख्या लोकमहाकाव्यों-लोकाख्यानों की तुलना में ज्यादा होती है।

इस शोधार्थी ने ऋतुचक्र के अनुसार आते सामाजिक-धार्मिक उत्सवों-अनुष्ठानों में सहभागी

होकर किए निरीक्षण तथा ऐसे धार्मिक मौखिक साहित्य के वाहकों-गायकों को पूछे गये प्रश्नों से पता चलता है कि पूर्वकाल से लोकजीवन के उषःकाल से ही गीतों-पुराकथाओं (मिथ्स)-लोकाख्यानों-लोकमहाकाव्यों जैसा धार्मिक साहित्य रचित हुआ है, स्वरूप स्थिर हुआ है और लक्षण स्पष्ट हुए हैं।

धार्मिक गीतों का पूर्वकालीन स्रोत

वर्तमान में भी भील समाज का मौखिक धार्मिक साहित्य वैदिक गान की तरह अनुष्ठान के संलग्न होता है और योग्य स्वर भार के साथ लय में गाया या बोला (कहा) जाता है। भूत-प्रेत को निकालने की गेय 'रेड़ी' सामगान से मिलती-झुलती होती है। भील समाज में सांप्रत में प्रचलित मैले-चोखे (शुद्ध) धार्मिक अनुष्ठानों में पूर्वकालीन यज्ञ संस्कृति के विविध विधि-विधानों के मूल देख सकते हैं।

भारत में वैदिक जीवनरिति धर्म बन गई। वेदों ने धर्म का शिष्ट रूप प्रस्तुत किया। वेद एक वर्ग में स्थिर हुए। लौकिक मंत्रों का अस्तित्व इसलिए बचा क्योंकि वे ऐसे मानव-समुदाय के हाथों में रहे जो कहे जाते शिष्ट वर्ग से दूर और अलग रहे। इन लौकिक मंत्रों की धरोहर जिन्होंने सँभाली वे भोपा (ओझा) कहलाये। भील आदिवासियों के प्रत्येक गाँव में एक से ज्यादा भोपा (आझा) बसते हैं। वे भूत-प्रेत-वीर-वेहों के प्रभाव को मंत्रों द्वारा चमत्कारिक रूप से दूर करते हैं। भोपा का संबंध गूढ़ आत्मा या शक्तियों के साथ स्थापित होता है या नहीं यह कह नहीं सकते, किंतु समाज के एक विशाल मानव-समुदाय के साथ अवश्य स्थापित होता है। ऐसे मानवसमूह पर भोपा का प्रभाव घनिष्ठ रूप से व्याप्त होता है।

सामाजिक गीत

गोठिया के गीत

यहाँ सामाजिक गीतों में से गोठिया विषयक प्रणय-गीतों को केन्द्र में रखकर उनके स्वरूप-लक्षण स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है।

भील लोकजीवन में गोठिया के गीतों की बहुलता है। जीवनचक्र के अनुसार किशोरावस्था से आरंभित ये गीत युवा, प्रौढ़ और वृद्धावस्था तक के स्त्री-पुरुषों के सामूहिक चित्त पर घनिष्ठ रूप में प्रभाव डालते हैं।

गोठिया के गीतों का सामाजिक संदर्भ

'गोठिया के गीत' भील समाज ने विषय की दृष्टि से दिया हुआ नामाभिधान है। 'गोठियो' याने कि प्रेमी और 'गोठण' याने कि प्रेमिका। भील समाज में किशोरावस्था से ही 'गोठियो-गोठण' करने की और मानसिक एवं शारीरिक प्रेम करने की जीवन-प्रणाली है। किशोर को

अपनी गोठण होती है और किशोरी को अपना गोठिया होता है। गोठियो-गोठण एक-दूसरे की ओर सहज रूप में आकर्षित होते हैं। यह आकर्षण मानसिक-शारीरिक प्रेम में परिणमता है। यह जातीय मुक्तता के मूल मानवसमाज की आरंभ की मातृसत्ताक जीवनरिति में देख सकते हैं। मातृसत्ताक जीवनरिति में जातीय संबंध स्थापित करने के लिए मुक्तता थी। ऐसी यौन मुक्तता भील समाज में भी है। उसका प्रमुख कारण सारे समाज का लोकमानस मातृसत्ताक जीवनरिति के जीवन-दर्शन में से आविर्भूत हुआ है। अतः एकान्त में किशोर-किशोरी को यौन संबंध स्थापित करते हुए कोई समाज का अन्य व्यक्ति देख लेता है तो हृदय की अत्यन्त उदारता से कहता है “बोदुं हैं, हीखें हैं; खाखरियुं करें हैं।” (कच्ची उम्र के हैं; सीखते हैं; वृक्ष के छाये में आनंद करते हैं।) यह लोकविवेक सारे समाज का है। समाज के अन्य व्यक्ति का यह सामाजिक व्यवहार उदार लोकतत्त्व के रूप में गोठिया के गीतों में प्रगट होता है। अतः भील कन्या गोठिया के साथ प्रकृति के सांनिध्य में भोगे संभोग के आनंद की अनुभूति को अपनी माता के समक्ष ब्रीड़ा के भाव को बीच में लाए बिना गीत के रूप में सहज गाती है :

गोठियो केंरते केंरी गई आया;
 केंरी गई आया,
 केंमदी पाखेळ फीरी गई आया !
 गोठियो केंरते केंरी गई आया;
 केरी गई आया,
 देड़कुं ओकें एंम ओकी गई आया !

किन्तु, जिसके साथ प्रेम होता है उसके साथ विवाह नहीं होता। समाज में बहिर्गोत्र प्रथा प्रचलित होने से विवाह अन्य गाँव और अन्य गोत्र में करना पड़ता है। अतः मंगनी और ब्याह उनके लिए वियोग के दुःख का कारण बनता है। परिणामतः पूर्वरग-प्रणय-मिलन-समागम के आरंभ के सुखात्मक भाव और विवाह के समय एवं विवाह के बाद के वियोग के दुःखात्मक भाव अभिव्यक्ति का रूप लेकर असंख्य गीत-नृत्यों में परिणमते हैं।

विवाह के बाद पूर्व प्रेमी के साथ यौन संबंध वर्जित है। कन्या अपने पूर्व प्रेमी के साथ जातीय संबंध स्थापित करे तो उसका पति गोठिया (प्रेमी) की हत्या करता है। समाज भी मानता है कि नियम का भंग करनेवाला व्यक्ति मृत्यु-दंड के योग्य ही है। जार प्रेम में पुरुष की हत्या करना भील समाज का जीवन मूल्य है।

भाव-रस की दृष्टि से गोठिया के गीतों को चार विभागों में बाँट सकते हैं : (१) पूर्वरग के गीत (२) मिलन-समागम के गीत (३) वियोग के गीत और (४) जार प्रेम (से होती हत्या) के गीत।

विवाह के पहले समाज स्वीकृत यौन संबंध के गीत ग्राम या नगर के गुजराती लोकसाहित्य में प्राप्त नहीं होते, उसका प्रमुख कारण है आदिवासी संस्कृति अन्य दो संस्कृतियों की जीवनरिति - जीवनमूल्यों - जीवनदर्शन की बहुत सी बाबतों में भिन्न है। जीवन का प्रथम प्रणय गोठिया-गोठण में ही घनीभूत हुआ होने से भील आदिवासी लोकसाहित्य में दाम्पत्य प्रेम के गीत (अपवाद के अलावा) प्राप्त नहीं होते।

गोठिया के गीतों के रचयिता

भील समाज के धार्मिक गीत पूर्वकालीन होने से धारणा के अलावा उनकी रचना के आधार प्राप्त नहीं होते। जब कि गोठिया के गीत वर्तमान में घटित प्रेम प्रसंगों के आधार पर रचे जाते हैं। अतः उनके रचयिता को आसानी से पहचान सकते हैं।

गोठिया विषयक प्रणय गीत जीवनचक्र के अनुसार किशोरा-तरुणावस्था के साथ जुड़े हुए होते हैं। अतः गोठिया के गीतों के आलंबन-आधार किशोर-किशोरियों के चित्त-हृदय होते हैं। विवाह से पहले प्रेम करना वह भील समाज की स्वीकृत जीवनरिति है। किशोर-किशोरी को आपस में प्रेम करना वह सामाजिक अधिकार बनता है। अतः कुटुंब या समाज के प्रभाव या दबाव के बिना प्रणय के भाव सहजता से व्यक्त कर सकते हैं। प्रेम की तलप किशोरियाँ ही ज्यादा अनुभव करती हैं। अतः गोठिया के पूर्वराग-मिलन-विरह के ज्यादा से ज्यादा गीतों की रचयिता किशोरियाँ-तरुणियाँ ही होती हैं।

भील समाज गीत रचना की प्रक्रिया को 'गीत गठवुं' (गीत गूँथना) कहता है और गीत रचयिता को 'हाकरियां गीतोनी गठनारी बाई' (मिश्री जैसे मीठे गीतों को गूँथनेवाली बहन) या 'हाकरियां गीतोनी गठनार पाई (भाई)' कहते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि प्रेम के भावों को अनुभव करनेवाले सभी व्यक्ति गीत नहीं रच सकते। परंतु, जिसमें सृजन प्रतिभा होती है वह स्त्री ही गोठिया के गीतों का सृजन कर सकती है। कभी-कभी सृजन प्रतिभावाला किशोर-युवक भी ऐसे गीत रचता है। प्रेम के भावों की तीव्र अनुभूति तो स्त्री की ही होती है। फिर भी प्रेम में दोनों सहभागी होते हैं; अतः किशोर-किशोरी साथ में मिलकर कभी-कभार गीत रचते (गूँथते) हैं।

किशोरियों के बाद उम्र के दूसरे तबक्के में गोठिया के गीतों की रचयिता युवतियाँ होती हैं। कन्या की मंगनी तय करने के लिए दुलहे के पक्ष के मेहमान आये हैं; मंगनी तय हो गई है; गोठिया को छोड़ने का समय नजदीक आ पहुँचा है आदि विवाह के पूर्व के सामाजिक प्रसंगों से युवती का चित्त आसन्न वियोग के भावों से भर जाता है। अतः चित्त में से सहज रूप में विरह के गीत अभिव्यक्त होते हैं।

भील समाज ने आर्थिक आपत्ति या अकाल के समय चोरी या लूट करना वीरोचित कार्य मानकर जीवनमूल्य के रूप में स्वीकार किया है। अतः चोर-लुंटेरों के वीरत्व भरे कार्य भी गीत

कथा के रूप में धार्मिक-सामाजिक पर्व-प्रसंगों पर समाज के सामने आते हैं। ऐसे गीत रचने के लिए स्त्रियाँ सहभागी नहीं होती। अतः ऐसे गीतकथाओं के सृजक पुरुष होते हैं।

इसके उपरान्त धरोई जलाशय के उद्घाटन के समय हेलीकोप्टर में बैठकर इन्दिरा गान्धी का आगमन, मोतीलाल तेजावत का देशी राजाओं के अन्याय के सामने जंग, भगवानदास पटेल का डायनप्रथा के सामने जंग, वीरचंद पंचाल ने किए शिक्षण के कार्यों आदि युगबोध झीलते प्रसंग गीतकथा का रूप लेकर समाज में फैलते हैं। ऐसे गीतों के रचयिता प्रमुखतः सहृदय पुरुष होते हैं।

भील समाज में प्रचलित गीतों का विहंगावलोकन करने से समझ सकते हैं कि जीवन के प्रत्येक तबक्के पर प्रभाव डालते गोठिया के गीतों की संख्या विपुल है। दूसरे स्थान पर वीरोचित कार्यों और युगबोध झेलते प्रसंग-गीत, कथा-गीत, गीतकथाएँ हैं। गोठिया के गीतों की रचयिता खास तौर पर स्त्रियाँ होती हैं। जब कि विरोचित कार्यों और युगबोध झेलते प्रसंग गीतों और गीतकथाओं के रचयिता पुरुष होते हैं।

गोठिया के गीत और अन्य घटना-प्रसंगों के गीत समय गुजरने के साथ विस्मृत हो जाते हैं। दूसरे वर्ष लोकजीवन में नये घटना-प्रसंग बनते हैं। अतः उनमें से नये गीत रचित होकर समाज के सामने आते हैं। काल के प्रवाह पर समाज में नित्य नये प्रसंग बनते रहते हैं और उनके साथ सृजनप्रक्रिया सतत चलती रहती है।

गोठिया के गीतों के रचयिता प्रत्येक गाँव में प्रत्येक उम्र-जूथ के स्त्री-पुरुष होते हैं और ख्यात होते हैं। ग्रामजन ऐसे सृजकों को जानते हैं। धार्मिक-सामाजिक पर्व-प्रसंगों के समय उनकी ख्याति पूरे प्रदेश में फैलती है। अतः लोकसाहित्य का सृजक अज्ञात होता है; यह मान्यता गोठिया के गीत और सांप्रत घटना-प्रसंगों में से रचे जाते गीतों के लिए गलत साबित होती है।

सृजन प्रक्रिया और गीत का स्वरूप

गोठिया के गीत और गीतकथा जैसे सामाजिक गीतों में सृजक की प्रतिभा के दर्शन उनकी आरंभ की (मुख की) पंक्तियाँ (ऐसी पंक्तियाँ एक, दो या तीन होती हैं) में होते हैं। ये पंक्तियाँ नवोन्मेष के साथ प्रगट होती हैं। ये पंक्तियाँ प्रेमी प्रेमिका ने भोगे मिलन विरह के सुखात्मक-दुःखात्मक अनुभवों के भावों में से आविर्भूत होती हैं। अतः तीव्र भावोर्मियाँ मौखिक शब्द के रूप में पूरे जोश के साथ प्रगटती हैं और गीत के स्वरूप को धरने के लिए क्रियाशील बनती हैं। मिलन के गीत की संपादित आरंभ की दो पंक्तियाँ निम्नांकित हैं :

रोईरानुं सोगुं लळे'ला, काळा मारा जोतां झाय'ला ।

आपुं बेठां एतण रोईरो फूलेंणो रे, काळा मारा जोतां झाय'ला ।

हे प्रेमी काळा ! रोहीड़ा का वृक्ष (एक जंगली पेड़) हर्षित होकर, टहनियों द्वारा छाये में बैठने के लिए आमंत्रण दे रहा है। हम दोनों छाये में बैठे; अतः उसके फूल खिल उठे एवं वातावरण

सुगंध से भर गया ।

प्रेम की अनुभूति की तीव्रता ही इतनी बलवान है कि बिना अलंकार शब्द सहज रूप में प्रगट होते हैं और गीत का स्वरूप धरने में सक्षम बनते हैं ।

वियोग के गीत की आरंभ की दो पंक्तियाँ निम्नांकित हैं :

मोय परणावी दूरा देस, झळुको मेली देझे'ला,
एण झळुकेनी झळके पासी आवुं'ला !

अर्थात् 'हे गोठिया ! मेरा विवाह दूर देश करवा दिया है; परंतु तेरे बिना वहाँ मन लगता नहीं है । अतः एक आईना रख देना । ताकि उस पर से परावर्तित सूर्यकिरणों के साथ मैं वापिस आऊँ । तुझसे मिलूँ । तेरे में समा जाऊँ ! सूर्य प्रकाश की तीव्र गति के साथ वापिस आकर प्रेमी में समा जाने की कल्पना चिर नूतन ! सृजक ऐसे प्रेम के, मिलन-वियोग, समर्पण, तृप्ति, प्यास आदि सुखात्मक-दुःखात्मक अमूर्त भावों को लोक में प्रचलित-लय में व्यक्त करने का माहिर होता है । भावोन्मेष के साथ चित्त में रचित ऐसी मौखिक कृति पर्वप्रसंग के वातावरण में समाज के अभिप्रेत अर्थ और प्रयोजन के लिए संगीत और नृत्य के बलवान लय के साथ कलात्मक रूप धरती है । ऐसे सृजक प्रत्येक गाँव में होते हैं, किन्तु उनकी संख्या गायकों की तुलना में कम होती है ।

गीत के आरंभ की मुख्य पंक्तियों की रचना में ही सृजक के नवोन्मेष की अभिव्यक्ति-कला की प्रतिभा के दर्शन होते हैं । उसके बाद आती टेक पंक्तियों-ध्रुव पंक्तियों को तो 'लोक' में प्रचलित संगीत का ज्ञाता कोई भी व्यक्ति रच सके वैसी सरल होती है । उदाहरण के रूप में यह सृजन प्रक्रिया समझ सकते हैं :

मार वारीमां फूलां हैं'ला उदा, फूलां हैं'ला उदा,
पमरो (भौरा) पोग (पराग) लें हैं'ला उदा !

यहाँ 'मार वारीमां फूलां हैं' और 'पमरो पोग लें हैं', पंक्तियों में ही सृजक की प्रतिभा के दर्शन होते हैं । युवती यहाँ उदा नाम के अपने प्रेमी को बाड़ी में निमंत्रण देकर समागम का इजन देती है, 'हे गोठिया ! बाड़ी के फूलों में से तो भौरा पराग ले रहा है, तू भी मेरी देहबाड़ी के यौवनपुष्प में से सुगंध प्राप्त कर ।'

इसके बाद बार-बार पुनरावर्तित होती 'ला उदा' जैसी टेकपंक्तियाँ या ध्रुवपंक्तियाँ गीत का ज्ञाता कोई भी व्यक्ति सर्जित कर सके वैसी सरल हैं । ऐसी पंक्तियाँ बार-बार पुनरुक्त होती हैं और गीत को गति देने और आगे बढ़ाने में मदद करती हैं । ऐसी टेक पंक्तियों के आधार पर ही समग्र गीत आकार प्राप्त कर स्वरूप धरता है । ऐसी पंक्तियाँ भावविकास करने में सहायक होती हैं ।

गोठिया के गीतों में प्रेम को व्यक्त करने की कितनी ही पदावलियाँ परंपरा में नियत होती हैं। जैसे की 'माया लागी केंणी खोटी ने आया (माता)', 'मारो जीवरो एणो मनरो ने आया', 'मरहु ते 'दि माया सोरहुने आया' आदि नियत पदावलियाँ रचयिता मुखड़े की पंक्तियों के बाद अनेक उर्मि-प्रधान गीतों में प्रयोजता है।

गीतकथा (प्रसंग गीत)

उत्तर गुजरात के खेड़ब्रह्मा-दांता तहसील के भील क्षेत्र में बीज-कोळी, दिवाली जैसे धार्मिक पर्वों के समय लोकमहाकाव्यों, लोकाख्यानों, कथागीतों इत्यादि गाए जाते हैं, जब कि गोर, वतांमणां, मेले, रातीजगा जैसे धार्मिक-सामाजिक उत्सवों पर गीतकथाएँ (प्रसंग-गीत) गाई जाती हैं। लोकमहाकाव्यों का व्याप दीर्घ होने से गायक प्रसंगों को विस्तृत करके चरित्रों के पूरे जीवन को कथता है। जब कि कथागीत चरित्र के जीवन के कोई एक महत्त्व के अंश के संलग्न होता है। ऐसे कथागीत में गायक को गौण पँखुड़ियों (प्रसंग-घटना) को कथने या गाने का अवकाश न होने से मूल कथा को ही कथता या गाता है। गीतकथा का कलवेर तो इससे भी लघु और छोटा होता है। उसका स्वरूप बेलेड (गुजराती रासड़ा) की याद दिलाता है। गीतकथाएँ वर्तमान में जिंदा या आसन्न भूतकाल (अतीत) में हयात व्यक्तियों के जीवन में घटित सच्चे प्रसंगों के आधार पर रची जाती हैं। ऐसे प्रसंग-गीत या गीतकथा में एक ही प्रसंग नृत्य के साथ तीव्र गति से आगे बढ़ता है और चरमसीमा पर पहुँच कर समाप्त हो जाता है। गीत-कथा या प्रसंग-गीत में प्रसंग या घटना आधारित वीरताप्रधान या महिमा अथवा स्तुत्यात्मक रचनाएँ गाई जाती हैं।

गीतकथा (प्रसंग-गीत) गाने की पद्धति और लक्षण

गीतकथा का आरंभ एक प्रमुख पुरुष गायक करता है। दूसरे सहायक गायक नृत्य के द्वारा साथ देते हैं और स्त्रियाँ नृत्य के साथ गीत को झेलती हैं। गायक झड़प से प्रसंग का गेय कथन करता हुआ आगे बढ़ता है। ऐसे गीतों में सामूहिक उत्साह एवं उल्लास का जोश इतना बलवान होता है कि अन्य सहायक वाद्य की आवश्यकता रहती नहीं है। गीत सामूहिक आनंद के जोश के साथ धनुष्य से छूटे तीर की तरह आगे बढ़ता है और परिसीमा पर पहुँच कर समाप्त हो जाता है।

गीतकथा में सत्य घटना का ही वर्णन किया जाता है इसलिए अवान्तर अलंकारों की आवश्यकता नहीं रहती। अतः गायक प्रसंग और प्रसंग के आवश्यक पात्र के व्यक्तित्व को सहज और सरल लोकबोली में कंठ्य संगीत के सहयोग से प्रगट करता है।

एक ही प्रसंगवाले लघु गीतों के साथ कोई विशेष लोकवाद्य जुड़ा हुआ होता नहीं है। अतः गायक बाल्यावस्था से ही विवाह, मेले, रातीजगा के प्रसंगों पर गाई जाती गीतकथाएँ गाने-नाचने और कथन-रजूआत का कौशल्य प्राप्त कर लेता है। परिणामतः सामाजिक उत्सव के समय समाज इकट्ठा होता है तब बिना आयास सहृदय गायक के होठों पर प्रसंगगीत प्रगटने लगते हैं

। ऐसे गीतों के प्रस्तुतिकरण का एक हेतु सामाजिक वातावरण के बीच सामूहिक आनंद प्राप्त करना होता है। अतः मुख्य गायक गीत के कथन के समय नाटकीय रूप में गीत को गाकर प्रस्तुत करता है। सहायक वृन्द को ज्यादा से ज्यादा रसनिमग्न करता है। प्रसंगगीत (गीतकथा) गाया जाय तो ही उसका महत्त्व सिद्ध होता है। वे गाए ही जाते हैं। घटना कही नहीं जाती। गीतकथा नृत्य संलग्न होने से ज्यादा से ज्यादा लोग नृत्य का आनंद प्राप्त करने के लिए समूह में सम्मिलित होते हैं।

समाज के बहुत-कुछ अप्रकट प्रसंग एक के बाद एक लोगों के सामने आने से लोकहृदय ज्यादा से ज्यादा स्फूर्ति का अनुभव करता है और गीत-नृत्यों से झूम उठता है।

प्रत्येक वर्ष पुराने भुलाए जाते हैं और नये नये गीत लोकप्रियता प्राप्त करते हुए समाज के सामने आते हैं। ये गीत अनलंकृत, सरल होने से प्राकृतिक झरनों की तरह ज्यादा से ज्यादा कंठों से फूट निकलते हैं। उनके घोष दूर पहाड़ों पर पड़ते हैं और प्रतिघोष के साथ मानों पत्थर भी गा उठते हैं।

प्रकरण-६ भील आदिवासी लोकसंगीत - लोकनृत्य

आदिवासी लोकसंगीत एवं लोकनृत्यों की प्राचीन पृष्ठभूमि

आरंभ से ही जंगल आधारित जीवन होने से प्रकृति के साथ अनुकूलन साधने और जीवन चलाने के लिए वन्य जीवों के साथ हुए अनुभवों से आविर्भूत जीवनरीतियों में से भील समाज की कितनी ही विशिष्ट लोकविद्याएँ विकसित हुई हैं।

आदिवासी संगीत का उद्भव स्थान : प्रकृति का प्रांगण

आदिवासी संगीत का उद्भव एवं पोषण प्रकृति के प्रांगण में हुआ है। यह एक ऐसे स्वरों की देवगंगा है कि जिसमें से जल लेकर ग्रामीण लोकसंगीत ने अपनी बाड़ी और नगरीय शास्त्रीय संगीत ने अपने उपवन को सजाया है।

पूर्वकालीन मानव की जीवनयापन चलाने की शिकारी जीवन-रीति और उस पर पड़े प्रकृति के कोमल-कराल रूपों का प्रभाव तथा उसको अभिव्यक्त करने की रीतियों में से आज के आदिवासी समाज के संगीत-वाद्य-नृत्य-नृत्त (मूक अभिनय) की लोकविद्या का उद्भव और विकास हुआ है।

आदिवासी संगीत आरंभ से ही ध्वनिप्रधान है। स्वरूप-प्रकार को ध्यान में रखकर ऐसे लोकसंगीत को दो वर्गों में बाँट सकते हैं : १. कंठ्य-संगीत और २. वाद्य-संगीत।

संगीत की आत्मा नाद है। नाद ही संगीत को जन्म देता है। नाद के साथ स्वर और लय सम्मिलित होते हैं। ध्वनि-एकम नाद से जन्म लेता है एवं नाद दो वस्तुओं के संघर्षण से जन्म लेता है। अतः संगीत सिद्ध होता है। समय या काल तत्त्व का अमुक रूप में विनियोग होता है तब वह नाद निश्चित और नियंत्रित बनता है एवं उसका विशिष्ट स्वरूप स्थिर होता है। इस तरह नाद के नियंत्रित आविष्कार के साथ ही स्वर और लय की सहजोपलब्धि-सिद्धि-संगीत कहलाता है।

लोकवाद्यों और उनके प्रकार

प्रकृति और सजीव सृष्टि में से मानव को जो विविध नाद-ध्वनि-लय प्राप्त हुए एवं कंठ में अनुकरण से और आत्म-सूझ से सिद्ध किए तथा उनको ज्यादा मीठे और प्रभावी बनाने के लिए उसने वाद्यों का सृजन किया। ये वाद्य उसने कुदरत से प्राप्त चीज-वस्तुओं में से निर्मित किए हैं। ये वाद्य आदिवासी समाज अपनी परंपरित लोकविद्या या लोकज्ञान के आधार पर बनाता है। ऐसे वाद्य लोग स्वयं सर्जित करते हैं। अतः उनकी पहचान के लिए 'लोकवाद्य' शब्द सार्थक है। इन लोकवाद्यों को प्रमुख दो प्रकार में बाँट सकते हैं : १. घनवाद्य और २. अवनद्ध वाद्य या पोले पेटवाले वाद्य। भील समाज के झालर, ताळिया (मंजीरे), गुरुज, कूगरा, वेंटला आदि संगीत के गायन-वादन में संगीत देते सहायक लोकवाद्य हैं। ऐसे धातु के वाद्य बजाने से गुंजार

भरा नाद देते हैं। ऐसे लोकवाद्यों का उपयोग धार्मिक अनुष्ठान के प्रसंग पर होता है। भील आदिवासियों के ढोल, वाजु (छोटा ढोल), सांग इत्यादि अवनद्ध चर्म लोकवाद्य हैं। ये भील समाज के अकेले स्वतंत्र रूप में बजाये जाते प्रमुख ताल-वाद्य हैं।

स्वर-वाद्यों को भी दो प्रकार में बाँट सकते हैं। फूँक के माध्यम से बजाये बंसी, शहनाई, शंख इत्यादि भीलों के सुषिर-वाद्य हैं। ये संगीत में स्वर देते सहायक लोकवाद्य हैं। दूसरे प्रकार के वाद्य तंतुवाद्य हैं। ऐसे वाद्यों के तार पर आघात करने से स्वर प्रगटते हैं। तंबूर, सारंगी, कोरायुं (घोडालियुं - मुखचंग से मिलता-झूलता वाद्य) ये भील आदिवासियों के तंतुवाद्य हैं। तंबूर स्वतंत्र वादन का प्रमुख स्वर तंतुवाद्य है। इन वाद्यों के साथ कोई न कोई पुराकथा (मिथ) जुड़ी हुई होती है।

लोकनृत्य

आदिवासी संगीत का सीधा संबंध नृत्य के साथ है। लय गीत-संगीत-नृत्य का प्राणभूत तत्त्व है। अतः नृत्य में ताल की परम आवश्यकता होती है। गीत-संगीत में आवश्यक स्वर तो कंठ में से भी प्रगट हो सकते हैं, परंतु ताल के बिना नृत्य में हुमक नहीं आ सकती। अतः भील पुराकथा के अनुसार नवलाख देवियों को नाचने के लिए तालवाद्य की आवश्यकता हुई। अतः भोळा भील के पास से तालवाद्य ढोल प्राप्त किया। जो पुराकथा नृत्य में तालवाद्य की आवश्यकता पर जोर देती है। स्वर की तरह ताल के लिए भी नाद आवश्यक है। ढोल नाद देनेवाला प्रमुख लोकवाद्य है। ढोल की तंग चर्म सतह पर गेड़ी का आघात करने से हवा में आंदोलन जन्मते हैं और एक विशेष गुंजन के साथ नाद प्रगटता है।

भील लोकजीवन की सांगितिक परंपरा में नृत्य के लिए 'नासवुं' शब्द प्रचलित है। भील समाज के सामाजिक-धार्मिक पर्व-प्रसंगों के संलग्न लोकनृत्य वाद्यों से पहचाने जाते हैं। जैसा कि 'ढोले नासवुं', 'सांगे नासवुं', 'तंबूरे नासवुं' इत्यादि।

भील समाज के लोकजीवन में वर्ष के ऋतुचक्र और जीवनचक्र के मुताबिक आते उत्सवों, धार्मिक अनुष्ठानों, सामाजिक संस्कारों, हररोज के व्यवहारों तथा आकस्मिक घटती घटनाओं के साथ ढोल ओतप्रोत है। भील लोकजीवन में से ढोल को बाकात किया जाय तो धार्मिक-सामाजिक पर्व-प्रसंगों, उनके संलग्न लोकगीत, लोकनृत्य, लोकसंगीत, लोकविद्या इत्यादि लोकसंपदा सदा के लिए लुप्त हो जायगी और हररोज के जीवन व्यवहारों को भारी हानि पहुँचेगी।

लोकसंगीत के आधार पर ढोल के प्रकार

गेड़ी के आघात से ढोल की सतह पर से प्रगटते नाद-ध्वनि एकमों या ध्वनि-घटकों के आधार पर ढोल के प्रकार पड़ते हैं। जैसे कि वारी ढोल, हाजरी का ढोल, जौनवियो ढोल, झोरी ढोल, दुहला का ढोल, मांदळी ढोल, ठमसळीओ ढोल इत्यादि। ढोल भील समाज में लोकजीवन को क्रियाशील करने का प्रमुख चालक-बल है।

लोकनृत्य का स्वरूप

लोकवाद्यों द्वारा पहले स्वर प्रगटते हैं। इन संगीत के स्वर सामूहिक देह को लय के साथ क्रियाशील करके नृत्य का स्वरूप देते हैं। गेयता-संगीत और नृत्य भील समाज के गीतों के प्राणभूत तत्त्व हैं।

आदिवासी लोकगीतों की तुलना में लोकनृत्यों की संख्या बहुत अल्प है। इसका प्रमुख कारण यह है कि लोकनृत्य आरंभ से ही सामाजिक लोकसमुदाय के बीच पलते हैं। गीत, तो मन में या प्रगट रूप में एक व्यक्ति भी गा सकता है। परंतु लोकनृत्य प्रस्तुति संलग्न होने से समूह के बीच क्रियाशील होते हैं। ऐसे लोकनृत्य समाज के लोकजीवन के सामाजिक अवसरों के साथ जुड़ जाने से आंगिक-सांगितिक-वाचिक परंपरा बन जाते हैं। फिर बरसों तक नवीन नृत्यों की आवश्यकता नहीं रहती। अतः लोकनृत्य चिरंजीवी बनकर समाज की धरोहर बन जाते हैं।

भील नृत्य वैयक्तिक आनंद के लिए प्रस्तुत नहीं किया जाता। उसका स्वरूप सामूहिक होने से सामाजिक संस्कार और आनंद-उल्लास की गहन छाप उस पर होती है।

भील नृत्य समाज के पर्व-प्रसंगों के सांनिध्य में लोकतत्त्वों के आधार पर स्वरूप धरते हैं। अतः समाज के व्यक्तित्व की छाप उन पर होती है।

आदिवासी लोकनृत्यों में समाज जीवन की परंपरा, संस्कार तथा धार्मिक आस्था निहित होती है। अतः लोकनृत्यों का उद्भवकाल प्राचीन और आयुष्य लंबा होता है।

भील लोकजीवन में स्वरवाद्य तंबूर का स्थान जीवित देव जैसा है। वह नृत्य में सहायक तो होता है, उपरान्त उसके स्वर धार्मिक वारता-लोकाख्यानों-लोकमहाकाव्यों में आते देवी-देवता के दर्शन गायक-श्रोता-दर्शक के चित्त में करवाता है। अतः साधु-वाहक तंबूर को स्थान पर से उठाते समय उसको जगाने का मंत्र बोलता है। प्रसंग की समाप्ति के बाद तंबूर को पुनः स्थापित करते समय कृतज्ञता भाव व्यक्त करने के लिए साधु श्रीफल चढ़ाता है।

आदिवासी नृत्य एवं वाद्य वैयक्तिक भावों से पर होते हैं। उनकी प्रस्तुति में सामाजिक भावना प्रबल होती है। अतः ढोल, सांग, तंबूर इत्यादि लोकवाद्य वैयक्तिक होते हुए भी सामाजिक-धार्मिक पर्व-प्रसंगों पर समाज की लोक संपदा माने जाते हैं। नृत्य के समय वाद्य को जो चाहे वह बजा सकता है।

शास्त्रीय नृत्यों की तरह आदिवासी वाद्यों और नृत्यों के भी अपने नियम होते हैं। धूळ के पाट (महामार्गी पाट) जैसे शुद्ध-चोखे धार्मिक अनुष्ठान के प्रसंग पर तंबूर-नृत्य ही किया जाता है। ढोल-नृत्य या सांग-नृत्य का निषेध होता है।

प्रकरण-७ भील आदिवासी लोकनाट्य

भील नाट्य का उद्भव स्थान नोरता-नृत्य

भीलों के नाटक का उद्भव नृत्य से हुआ है, उसका प्रमाण उनका 'नोरता' नाम का धार्मिक उत्सव देता है। आसो सुद एकम से लिया जाता नोरता 'नवलाख देवियों' की पुराकथा (मिथ) का नृत्य-नाट्य रूपान्तर है।

नोरता की पुराकथा का एक अंश

अमर होना और आनंद प्राप्त करना मानव की महत्त्व की मूलभूत वृत्तियाँ हैं। अपने कार्यों के निशान युगों तक लोकमानस की स्मृति में बसे रहे ऐसी आकांक्षा से पाताल में बसे वासुकी नाग के फन में से बरगद और बाँस के बीज नवलाख देवियों ने अनेक साहस करके प्राप्त किए। बीज पृथ्वी पर बोए। बरगद और बाँस बड़े हुए। बाँस में से बाँसुरी बनाई गई। बरगद के छये में नृत्य करने के लिए चार देवियों ने राइयों का वेश लिया। 'गुणका' (गणपति) की 'अगुआई' में नोरता का सृजन किया। नृत्य में हुमक आए इसलिए भोळा भील को ढोल बजाने के लिए शामिल किया। इस तरह चार राइयाँ और पाँचवा 'बूटा' (गणपति) ने अपने कार्यों को मूर्त स्वरूप देने के लिए ढोल के ताल और बाँसुरी के स्वर की संगत में नौ दिन तक पृथ्वी पर नृत्य किया और आनंद प्राप्त किया। भील स्वाँग (वेश-नृत्य) कलयुग में नोरता के रूप में ख्यात हुआ।

भील समाज में इस उत्सव के कार्य को 'नोरतुं नासवुं' अथवा 'नोरतुं रमणुं' भी कहते हैं। 'नोरतुं नासवुं' नृत्य का और 'नोरतुं रमणुं' नाट्य का भाव दर्शाता है।

इस शोधार्थी ने भील समाज के उत्सव में सहभागी होकर प्राप्त की नोरता के धार्मिक संदर्भ की माहिती का विश्लेषण करने से कितने भील लोकनाट्य के सिद्धान्त प्राप्त होते हैं :

- (१) नोरता का उत्सव सिर्फ दर्शकों के सामने प्रदर्शित करने का नृत्य-नाट्य रूप ही नहीं है, परंतु गाँव के मनुष्यों और पालतू पशुओं में से आधि-व्याधि-उपाधि जैसी बीमारियाँ दूर करने का धार्मिक अनुष्ठान है। अतः वह ग्रामीण लोकनाट्य और प्रशिष्ट नाटक से अलग पड़ता है।
- (२) उसका स्वरूप समाज प्रचलित नवलाख देवियों की पुराकथा और भूत-प्रेत, टोने-टोटके जैसी मैली विद्या में विश्वास तथा मूठ-चोट के 'मारण-वारण' में से आविर्भूत हुआ है।
- (३) नोरता को वहन करनेवाला और उसका रूप लेनेवाला समाज का एक विशेष वर्ग भोपा (ओझा) होते हैं। वे शुद्ध और मैली विद्या के ज्ञाता होते हैं। समाज न जानता हो ऐसा गुह्य ज्ञान या विद्या वे गुरु-परंपरा से प्राप्त कर लेते हैं। उसका उपयोग समाज के विविध प्रकार के धार्मिक अनुष्ठानों को संपन्न करने में करते हैं। वे ऐसी विद्या का उपयोग आधिदैविक शक्तियों का आह्वान करने में और उनके माध्यम से रोग, अकाल, अतिवृष्टि जैसी कुदरती

आपत्तियों का निवारण करने में करते हैं। आवेश या भाव की स्थिति में भोपा स्वयं देवता या अलौकिक शक्ति बन जाते हैं।

(४) नोरता में भोपा देवी-देवता का जो स्वाँग (वेश) लेकर अभिनय करते हैं, तब लोक-समुदाय उनको वही देवी-देवता मान लेता है। वे जो साज-सज्जा या वस्त्र-आभूषण-मुखौटे धारण करते हैं वे देह के सौंदर्य के लिए नहीं होते, किन्तु धार्मिक अनुष्ठान की सामग्री होती है। नोरता के भोपा यह देवी-देवताओं के स्वाँग की वेश-भूषा धार्मिक विधि करने के बाद धारण करते हैं तब उनका वही देवी-देवता के साथ तादात्म्य स्थापित होता है। वे स्वयं देवी-देवता बन गये हों वैसा अनुभव करते हैं। अतः उनके बोलने मात्र से ग्रामजनों और पालतू पशुओं में से बीमारी का निवारण होता हों ऐसा समाज, देवी-देवता की ओर धार्मिक आस्था के कारण मानते हैं। नोरता जैसे धार्मिक आनुष्ठानिक नाटक भोपा वर्ग द्वारा ही अभिनित होते हैं। उनके द्वारा किए जाते गुह्य कार्यों के लिए मंत्रों और शुद्ध एवं मैली विद्या आवश्यक होती है। अतः ऐसे आनुष्ठानिक नाट्य भोपा (ओझा) वर्ग की संपत्ति बन जाते हैं। व्यक्ति के कालधर्म हो जाने के बाद ऐसी गुह्यविद्या उसके कुटुंब की संपत्ति बनती है।

(५) भीलों के धार्मिक अनुष्ठान और आनुष्ठानिक नाट्य की एक विशेषता यह है कि भोपा द्वारा अभिनित कथा या प्रसंग पर दर्शक समुदाय की आस्था घनिष्ठ होती है। अतः इन घटना-प्रसंगों के प्रदर्शनों में संभव और असंभव, संगत और असंगत के भेद नहीं रहते। दर्शक नाटक में प्रस्तुत प्रसंगों को असंदिग्ध रूप में स्वीकारते हैं। साहित्यिक नाटकों को आस्थामूलक लोकमानस की क्रियाशीलता का लाभ नहीं मिलता। साहित्यिक नाटक पुराकथाकीय आस्था से भिन्न हररोज के जीवन से ज्यादा नजदीक होने से अनुभव के आधार पर क्रियाशील होते हैं। ऐसे नाटक यथार्थ से ज्यादा नजदीक आते हैं। आदिवासियों के आनुष्ठानिक नाटकों और प्रशिष्ट साहित्यिक नाटकों का यह प्रमुख भेद है। यथार्थ और धार्मिक आस्था का यह भेद होने से आदिवासी धार्मिक नाटकों के दर्शकों की संशयहीन समर्पण की भावना का लाभ साहित्यिक नाटकों को नहीं मिलता।

होली और गोर (गौरी-गणगोर) के महोत्सव भील समाज के लोकनाट्य के विकास का दूसरा महत्त्व का तबक्का है। इस तबक्के में धार्मिक वेश उपरान्त लोकनाट्य में सामाजिक स्वाँग और संवादों (कथोपकथन) का विकास हुआ है। यह कालखंड शिकारीयुग और कृषियुग के बीच का होने की संभावना है।

फागुन सुद एकम से पूनम तक के समय में होली का धार्मिक उत्सव एवं वैशाख सुद एकम से पूनम तक के समयखंड में गोर का धार्मिक त्यौहार मनाया जाता है। होली का उत्सव हिरण्यकशीपु की बहन होलिका के साथ एवं गोर का उत्सव सृष्टि के आरंभ में जल पर पोढ़े 'जळुकार भगवान' के मुख से आविर्भूत उमिया और नाभि से जन्मे शिव के साथ संलग्न है। भाद्रपद में आती 'गवरी' गोर के उत्सव का विकसित रूप है।

वेश (स्वाँग) नाट्य के प्रकार

होली, गोर और गवरी जैसे महापर्वों पर खेले या नाचे जाते वेश-नाट्यों को तीन प्रकार (वर्गों) में बाँट सकते हैं : (१) धार्मिक वेश-नाट्य (२) सामाजिक वेश-नाट्य और (३) वन्य सृष्टि अंतर्गत वेश-नाट्य ।

(१) धार्मिक वेश-नाट्य

धार्मिक वेश-नाट्यों में डायन, ठाकुर के घोड़े, रखी, काळकी, कान-गोपियाँ इत्यादि का समावेश होता है । ऐसे वेश-नाट्य भील समाज के देवी-देवता पर की धार्मिक आस्था में से आविर्भूत हुए हैं । इन स्वाँगों को आनुष्ठानिक वेशनाट्य भी कह सकते हैं । जिनके उद्भव और स्वरूप की चर्चा इसके पहले की गई है ।

(२) सामाजिक वेश-नाट्य

सामाजिक वेश-नाट्यों में झरखुं और वहोरे, सिपाही, काथोड़ी आदिवासी, दुलहा-दुलहन, किसान इत्यादि का समावेश होता है ।

धार्मिक वेश मूक अभिनय द्वारा स्वरूप धरते हैं । चरित्र के साथ तादात्म्य की पराकाष्ठा के समय देवी-देवता का भाव अभिनेता के माथे उतरता है । जब कि सामाजिक वेश-नाट्य हररोज के व्यवहारिक जीवन संलग्न होते हैं । अतः ऐसे आधिदैविक भाव का प्रभाव अभिनेता पर पड़ता नहीं है । सामाजिक स्वाँग-नाट्य की दूसरी विशेषता वह है कि पात्रों को एक-दूसरे के साथ सामाजिक-आर्थिक व्यवहार करना पड़ता है । अतः ऐसे नाट्य संवाद (कथोपकथन-वार्तालाप) संलग्न होते हैं । ऐसे संवाद रागात्मक गद्य में होते हैं ।

धार्मिक वेश ढोल के ताल और बाँसुरी या शहनाई के स्वर की संगत में खेले या नाचे जाते हैं । अतः वाद्य संगीत अनिवार्य होता है । जब कि सामाजिक वेश-नाट्य संवाद प्रधान होते हैं । अतः वाद्य-संगीत प्रदर्शकों-दर्शकों-श्रोताओं के लिए बाधक बनता है । धार्मिक स्वाँग-नाट्य अनुष्ठान संलग्न होने से गंभीरता से खेले जाते हैं । जबकि सामाजिक स्वाँग-नाट्य प्रमुखतः मनोरंजन के लिए होते हैं ।

काथोड़ी आदिवासी, दुलहा-दुलहन जैसे सामाजिक पात्रों के द्वारा यौन चेष्टाएँ हास्य के साथ मुक्त रूप में अभिनित की जाती हैं । प्रदर्शकों को सामाजिक छेछ का भय न होने से कामजन्य चेष्टाओं का जितना ज्ञान होता है वह वाचिक-कायिक अभिनय द्वारा अपने रिस्तेदारों के सामने सहज रूप में प्रदर्शित करते हैं ।

वेह (वेश) के प्रदर्शक

होली और गोर के त्यौहार के समय खेले जाते सभी 'वेह' (वेश) पुरुष ही खेलते हैं । वेश या नाटक में आते स्त्री पात्रों का स्वाँग पुरुष ही लेते हैं । स्त्रियों को वेह खेलने का निषेध होता है । वे सिर्फ गीत और नृत्य में ही सहभागी होती हैं ।

होली और गोर के समय जिन पुरुष वेह खेलते हैं वे उत्सव की समाप्ति तक - कम से कम

पंद्रह दिन माँस-मदिरा का त्याग करते हैं। ये वेह परंपरा में उतरते हैं। पहले वर्ष पुरुष जो वेह या पात्र लेता है उसको ही दूसरे वर्ष भी वही वेह या पात्र लेना पड़ता है। दूसरे वर्ष वह प्रदर्शक यदि अपना वेह या पात्र खेले नहीं तो उस पर होली का प्रकोप उतरता है और वह बीमार पड़ता है वैसी पूरे समाज की दृढ मान्यता होती है।

प्रदर्शक अपने वेश या पात्रों की रूप-सज्जा चारों ओर फैली प्रकृति की वस्तु और टूटी-फूटी घरेलू चीजों से निखारते हैं। प्रस्तुतकर्ता को पात्रकी वेशभूषा सजने के लिए कोई आर्थिक खर्च करने की आवश्यकता नहीं पड़ती और नहीं तो ये नाटक आर्थिक उपार्जन के हेतु खेले जाते। ये नाटक धार्मिक और सामाजिक प्रथा-परंपरा निभाने के लिए खेले जाते हैं।

रंगमंच

होली और गोर के त्यौहार के समय खेले जाते वेहों के लिए कोई विशेष रंगमंच की आवश्यकता नहीं होती। गाँव का कोई खेत-खलिहान या पहाड़ की कोई समतल तलहटी का प्रांगण रंगमंच बन जाता है। यह प्राकृतिक रंगमंच के चारों ओर फैली शीलाएँ और वृक्षों की टहनियाँ दर्शकों की बैठकें बन जाती हैं। इस पहाड़ी प्रदेश में वेशभूषा करने के लिए बाँधे कमरे की भी आवश्यकता नहीं। कोई बड़ी शीला के पीछे प्रदर्शक वेश सजते हैं और बदलते हैं।

आरंभ में आबाल-वृद्ध, स्त्री-पुरुष सभी सम्मिलित होकर होली के गीत गाते हैं और जानविया ढोल के साथ नृत्य करते हैं। एक विशेष वातावरण सर्जित हो जाने के बाद वेह (जो वेश भी होते हैं और नाटक भी होते हैं) खेलने का प्रारंभ होता है।

वेहों के लोकवाद्य

वेश निकालते और नाटक खेलते समय ढोल, मृदंग, कुंडी जैसे चर्मवाद्यों और बाँसुरी, शंख, लगा जैसे सुषिर वाद्यों का उपयोग होता है। प्रत्येक वेश या नाटक ढोल या मृदंग के संगीत के साथ होते नृत्यों के साथ बदल जाता है, इसलिए रंगमंच पर पट परिवर्तन की आवश्यकता नहीं होती। दृश्य परिवर्तन में भी ये लोकवाद्य सहायक होते हैं।

गोर और होली के उत्सव पर खेले जाते ये वेह या नाटक नृत्य और संगीत की पीठिका में ही निखरते हैं। उन लोकनाट्यों को स्थानीय बोली के रागात्मक संवाद सजीव बनाते हैं और लोक की अपनी नीजी बोली के मुहावरे और वक्रोक्तियाँ होने से लोकसमुदाय उनमें से भरपूर आनंद प्राप्त करता है।

वेहों के दर्शक

धार्मिक वेहों पर पूरे समाज के लोगों की प्रगाढ़ आस्था होने से दर्शक धार्मिक अदब का पालन करते हैं और प्रदर्शक अत्यंत गंभीरता के साथ नाट्य खेलते हैं। जब सामाजिक वेहों का उद्देश्य समाज में घटित विशेष घटनाओं से लोगों को जानकारी देने के साथ साथ लोकानुरंजन होने से प्रदर्शक उन्मुक्त रूप से हर्षोल्लास के साथ खेलते हैं। अतः अभिजात वर्ग को नग्न और अश्लील लगनेवाले वेह भी यहाँ इतनी सहजता के साथ खेले जाते हैं कि ये 'वेह' लोकानंद के

प्रमुख अंश बन जाते हैं और श्लील अश्लील के किनारे लाँघ जाते हैं ।

धार्मिक वेह या नाटक परंपरागत प्रदर्शकों के द्वारा इतने प्रभावपूर्ण रूप और प्रबल धार्मिक श्रद्धा के साथ खेले जाते हैं कि कभी कभी दर्शक-प्रदर्शक का भेद मिट जाता है और गीत-नृत्य मिश्रित वेहों में पूरा लोकसमुदाय सम्मिलित होता है गाने और नाचने लगता है ।

ये लोकनाटक समाज के विशेष धार्मिक एवं सामाजिक प्रयोजन के हेतु लोगों के द्वारा जनसमूह बीच खेले जाते हैं । ये वेह या नाटक आसन्न भूत और वर्तमान लोकजीवन के ही अंश होने के कारण 'लोक' की सामुदायिक आशा-आकांक्षा-भावना सजीव रूप धारण करती है । उनमें संघोर्मि उन्मुक्त रूप में प्रगट होती है । अतः पूरा लोकसमुदाय नाटक देखने में निमग्न हो जाता है ।

डुंगरी भील आदिवासियों के ये वेह दर्शकों के मानस में बीज में से अंकुरित और पल्लवित होकर विकसित नहीं होते । परंपरागत होने से ये 'वेह' दर्शकों के चित्त में पहले से ही स्थित होते हैं । फिर भी दर्शक लोग देवी-देवताओं की ओर पूज्यभाव, प्रदर्शकों की अभिनयकला और लोकनाटकों की मंचन प्रक्रिया से आकर्षित होकर आते हैं । ये वेश समाजजीवन का ही एक हिस्सा होने से दर्शकों को अपने आत्मीय लगते हैं । अतः दर्शक और प्रदर्शक के बीच आत्मीय संबंध कायम करते हैं ।

डुंगरी भील आदिवासियों के ये वेह लोक के सहज संस्कारों से संपन्न और विराट भारतीय लोक की आत्मा के अंश जैसे होने से भावात्मक एकता स्थापित करने में भी सहायक हो सकते हैं ।
उपसंहार

होली फागुन शुक्ल पंचमी से कृष्ण पंचमी तक पूरे पंद्रह दिन चलता अनेक लोकनाट्य संलग्न और ५० से ६० नटों से प्रदर्शित होता उत्तर गुजरात के भील आदिवासियों का अनूठा नाट्योत्सव है । यह विशिष्ट नाट्यस्वरूप अनेक प्रदर्शकों द्वारा, संख्यातीत दर्शकों सन्मुख पूरी सुव्यवस्था के साथ, पंद्रह रात धार्मिक अदब के साथ प्रदर्शित किया जाता है । इस समय अरावली पहाड़ी प्रदेश का पूरा लोकजीवन होली और प्रह्लाद के दर्शन करता है । लोग देवी-देवता पर परम आस्था के साथ तन्मय बन गीत-नृत्य-संगीत-कथा संलग्न नाट्य को देखते हैं और नाटक के चरित्रों के साथ दत्तचित्त होकर पूरे पंद्रह दिन होलीमय बन जाते हैं ।

प्रकरण-८

भील आदिवासी लोककथा

लोकसाहित्य एक विशिष्ट भूभाग पर बसती जाति के 'लोक' के सामाजिक-धार्मिक-आर्थिक प्रयोजन के लिए स्थानिक बोली में स्वरूप धारण करता है। ऐसा साहित्य सामाजिक संस्कार और धार्मिक अनुष्ठान संलग्न होता है तथा विधि-विधान के साथ क्रियाशील होकर लोकमुख से अभिव्यक्त होता है। ऐसे मौखिक साहित्य के स्वरूप लोकानुरूप होते हैं। अतः लोकसाहित्य के स्वरूपों को हम संस्कृति-समाज के लोकजीवन के संदर्भ में ही समझ सकते हैं। ऐसे स्वरूपों को लिखित रूप में प्राप्त करके उनका अध्ययन कर सकते हैं।

यह भारतीय लोक तो विराट है। अलग-अलग क्षेत्र में उसके अनेक निराले मौखिक रूप हैं। उसके स्वरूपों को वर्गीकृत करते समय हम उसे 'फोकसांग', 'फोकटेल', 'मिथ', 'फोक-एपिक', 'फोकड्रामा' जैसे विदेशी साहित्य के बने बनाये तैयार ढाँचे में ढाल देते हैं। ऐसा न करके संबंधित प्रदेश के परंपरित प्रचलित नामाभिधानों को ध्यान में रखकर वर्गीकरण करना चाहिए। जैसे कि उदाहरण के रूप में उत्तर गुजरात के खेडब्रह्मा तहसील में निवास करती भील जनजाति में ऋतुचक्र के अनुसार गान एवं कथन शैली के लोकस्वरूप 'गीतां', कोणी, भजनवारता, अरेला, वतांमणां(मनौती)नां गीतां आदि परंपरित नामाभिधान हैं। वर्गीकरण करते समय इन नामों को यथावत् रखने चाहिए। फिर इनके स्वरूप का सघन अध्ययन करने के लिए परदेशी स्वरूप-नाम उपयोग में लेने चाहिए।

यहाँ हम उत्तर गुजरात के अरावली पहाड़ी प्रदेश में बसे भील आदिवासी समाज की 'लोककथा' के स्वरूप का अध्ययन कर रहे हैं।

भीली बोली के मौखिक साहित्य में 'कथा' शब्द प्रचलित नहीं है। किन्तु, ऐसे स्वरूप के लिए 'कोणी', 'वात', 'टुसकुं', 'वही'('वई'), 'झारो', 'मतर', 'अरेलो', 'बेठोरगीत' आदि शब्द प्रचलित हैं।

भील समाज की कोणी और वात का स्वरूप :

'कथा' शब्द संस्कृत के कथ् (कहना) धातु से बना है। हम जिसे 'लोककथा' (फोकटेल) के नाम से पहचानते हैं, उसे भील समाज 'कोणी' कहता है। वह गुजराती 'कहेणी' शब्द का परिवर्तित रूप है, जो कथन करने का सूचन करता है। यह 'कहेणी' ही भीली 'कोणी' के कलामय स्वरूप को बाँधती है। दूसरे मौखिक साहित्य के स्वरूपों की तरह कोणी भी वाणी की कला है। अतः श्रोता कथन की कला और वाणी से प्रभावित होते हैं, तब कथक (कथावाचक) की वाणी का गौरव करने के लिए बीच बीच में आश्चर्य-आनंद से पुकारते हैं, 'ए वाँणी ! वाह ! वाह

!' अतः कथक को कौणी कहने का आनंद आता है और कथा आगे कहने का शूर चढ़ता है ।

गद्य में कहे जाते कथा के लघु स्वरूप को भील वाहक या कथावाचक कौणी कहते हैं, जबकि दीर्घ कथा स्वरूप को 'वात' कहते हैं । वात सुदीर्घ हो तो बीच-बीच में गीत भी आते हैं । गीत श्रोताजनों को वात में ज्यादा रसनिमग्न करते हैं और कथक को स्मृति सतेज करने में सहायक होते हैं । (कौणी और वात का स्वरूप समझने के लिए देखिए मूल गुजराती प्रत का परिशिष्ट)

मन को चमत्कृत करके आश्चर्य-आनंद दे वैसे कौणी से भी लघु स्वरूप को भील समाज 'टोळकुं' (टुळ्ळू) कहता है । 'टोळकुं' या ने कि श्रोताओं को मनोरंजन दे वैया छोटा सा प्रसंग या घटना । सुदीर्घ धार्मिक 'वारता' का कथक-गायक साधु श्रोताजनों को प्रमुख वारता के विषय पर ध्यान केन्द्रित करने के लिए आरंभ में ऐसे अवान्तर मनोरंजक 'टोळकां' कहता है । 'टोळकुं' याने के व्यंग्य-कटाक्ष के साथ हास्य दे वैया मनोरंजक प्रसंग या घटना । ऐसा प्रसंग कथा-वाचक उपस्थित श्रोता के नाम के साथ भी जोड़ता है । अतः प्रसंग रसमय बनकर श्रोताओं को ज्यादा आनंद देता है । ऐसे प्रसंग-घटना-कथाघटक बहुमुखी होने से कौणी-वात (लोककथा) की एक श्रृंखला बनती है जिसको कथावाचक 'कौणी-वात गठवी' (गूथना) कहते हैं । ऐसी कौणी-वातो का उद्देश्य आनंद देना और समय निर्गमन का होने से, सत्य घटना के अलावा कल्पना की मुक्त लीला ज्यादा विलसती है । ऐसी कौणी-वातो को भील समाज 'बउमुखीली' - 'बहुरूपीली', 'जूठी' (मिथ्या) वातो कहते हैं । कल्पना का मुक्त विहार अनेक मुखों का होने से कौणी या वात का पाठ नियत रह नहीं सकता । अतः ऐसी कौणी या वात के एक से ज्यादा पाठान्तर या रूपान्तर प्राप्त होते हैं । कौणी या वात कहीं भी, चलते चलते पंथ काटने के लिए, एक श्रोता हो तो भी, बिना वाद्य, बिना पर्व-प्रसंग कही जाती है ।

कौणी या वात की वाणी धर्माश्रयी नहीं होती । कौणी या वात वर्तमान में भी कोई चमत्कृत करे या आनंद दे या जिज्ञासा संतुष्ट करे ऐसे प्रसंग-घटना बनते हैं तब सर्जित होती है । अतः घटना-प्रसंग में से कौणी बनने की प्रक्रिया में प्रत्येक कथा-वाचक की कहने की रीति का रूप बदलता रहता है । बहुत मुखों से गुजरती है तब बहु-स्वरूप धरती है । कौणी एक-दो कथा-घटक-प्रसंग घटनाओं की होती है । जब कौणी के साथ ज्यादा कथाघटक सम्मिलित होते हैं और वह विकसित होती है तब वात कहते हैं ।

आदिवासी निसर्ग समाज का जीवनयापन वनसंपत्ति और शिकार आधारित होता है । अतः उनकी ज्यादा से ज्यादा 'कौणी-वातो' प्राणी-पक्षी के साथ होते निरीक्षण, अनुभव और उनमें से उद्भूत मान्यताओं में से मौखिक स्वरूप धारण करती हैं । ऐसी 'कौणी-वातो' जलचर-खेचर-भूचर प्राणियों की विशेषताएँ प्रगट करती हैं । इस शोधार्थी द्वारा संपादित 'गुजरांनो अरेलो' की आरंभ की 'हरिओम राज्ञानी पांखड़ी' इस प्रकार की है । इसके उपरान्त उनके सामाजिक-धार्मिक

उत्सव रात के अँधेरे में मनाए जाते हैं। अतः रात के अँधेरे में दिन के प्रकाश से अलग लगते वृक्ष, पहाड़, नदी आदि के डरावने आकार-प्रकार तथा भयभीत करे वैसे जंगली पशु-पक्षी की आवाजें, उनके साथ होते अनुभव एवं उनमें से उद्भूत मान्यताओं से अनेक 'कौंणी-वातो' ने जन्म लिया है। इसके उपरांत आँधी-अतिवृष्टि जैसे कुदरती प्रकोप आदि के अनुभवों से आधिभौतिक-आधिदैविक वीर, रखी, भूत-प्रेत, डायन आदि की 'कौंणी-वातो' आविर्भूत हुई हैं जो अन्य नगर एवं ग्रामीण लोकजीवन की लोककथाओं से भिन्न होती हैं।

इसके उपरान्त भील समाज में धार्मिक-सामाजिक पर्व-प्रसंगों पर होते धार्मिक अनुष्ठान, सामाजिक संस्कार और विधि-विधानों के समय विपुल गेय कंठस्थ साहित्य गाया जाता है और लयात्मक गद्य में कहा जाता है। भील समाज की मौखिक परंपरा में कथा शब्द प्रचलित नहीं है। अतः ऐसे धार्मिक अनुष्ठानों और सामाजिक विधि-विधानों के प्रसंग पर प्रस्तुत लोकसाहित्य के भिन्न-भिन्न प्रकार के लिए मतर, झारो, वही, रेड़ी, वारता, अरेलो, बेटोरगीत आदि नामाभिधान प्रचलित हैं। जिनका उल्लेख इसके पहले किया गया है।

'मतर', 'झारो', 'वही' रेड़ी आदि प्रकार धार्मिक-सामाजिक वातावरण से नियंत्रित गंभीर-स्वतंत्र-स्वयं पर्याप्त लघु 'टोळकां' (टुट्टुषूहूहू) होते हैं। जब वारता, अरेलो, भजनवारता, बेटोरगीत आदि मौखिक स्वरूपों में अनेक घटना-प्रसंग जुड़े हुए होते हैं। ऐसे धार्मिक अनुष्ठान सामाजिक संस्कार और विधि-विधानों के प्रसंगों पर गाया जाता सुदीर्घ कथा-स्वरूप जिसके हम लोकाख्यान-लोकमहाकाव्य कहते हैं, उनसे मिलता-झूलता है। ये सभी प्रकारों के लिए भीली मौखिक-परंपरा में 'वारता' शब्द प्रचलित है।

वही-रेड़ी-झारा का स्वरूप :

वही - रेड़ी - झारो भी मंत्र का एक प्रकार है। मंत्र लघु होते हैं। रेड़ी-झारो-वही में 'धरण नं मनखा अवतार', 'देवीओनी वही', 'शिव-पारवतीनी वही' आदि में देव-देवियों की महिमा गाई जाती है। अतः रेड़ी - झारो - वही मंत्र से दीर्घ होते हैं। वारता में अनेक घटना-प्रसंग होने से सुदीर्घ होती है। रेड़ी मोल्ला का धार्मिक अनुष्ठान करने के बाद गाई जाती है।

'धरण नं मनखा अवतार', 'देवीओ', 'शिव-पारवती' जैसी वही बीमार को 'चोखे' (शुद्ध) देव के प्रभाव से मुक्त करवाने के लिए भोपा (ओझा) द्वारा धीमे स्वर में लयबद्ध गद्य में कही जाती है। यह विधि पाँच बार करने से दुःख दूर होने की श्रद्धा प्रगाढ़ बनती है। देव मैला (अशुद्ध) हो तो भोपा 'मोल्ला' का आयोजन करता है। इस समय वे वहियाँ रेड़ी में परिवर्तित हो जाती हैं। इस समय जो 'वही' का स्वरूप लयात्मक गद्य-प्रधान था वह गेय-प्रधान बन जाता है। झारा ही भोपा विलंबित एवं द्रुत स्वर में गीतमय रेड़ी के रूप में गाने लगता है। वादक ढोल बजा के भोपा को सहयोग देते हैं।

वही या रेड़ी समाज के एक खास वर्ग-भोपा (ओझा) द्वारा प्रस्तुत मौखिक गुप्तविद्या स्वरूप है। यह गुप्तविद्या गुरु से प्राप्त होती है। इसे कंठस्थ करने के लिए कारतक खास मास माना जाता है।

वही - रेड़ी के साथ बीमारी दूर करने का प्रयोजन होने से सहभागी दर्शक-श्रोता मोल्ला जैसे धार्मिक अनुष्ठान के समय अदब का पालन करते हैं। भोपा में अवतरित देव की ओर आस्था होने के कारण वे भोपा की वही सुनते हैं। मोल्ला के समय रेड़ी गाने में सहभागी होते हैं और अनुष्ठान की धार्मिक विधि में सहायक होते हैं।

वही या रेड़ी से दीर्घ स्वरूप को 'वारता' कहते हैं। वारता अनेक घटना-प्रसंगों के साथ विकसित होती है, तब जिसको हम लोकमहाकाव्य कहते हैं वैसा सुदीर्घ स्वरूप भी धारण करती है। यह मौखिक सुदीर्घ स्वरूप और प्रमाण में लघु एवं लोकाख्यान से मिलते-झूलते स्वरूप को भी भील समाज 'वारता' कहता है।

भील समाज की वारता का स्वरूप :

भील आदिवासी वारता भादो मास में धूळा के ठाकुर के पाट (महामार्गी पाट) और माघ मास में कौबरिया ठाकुर के पाट के चोखे-मैले (शुद्ध-अशुद्ध) धार्मिक अनुष्ठान के प्रसंग पर साधु-भोपा कथक-गायक-वाहक द्वारा गाई जाती है एवं लयात्मक गद्य में कही जाती है। दोनों महीनों का धार्मिक वातावरण भिन्न भिन्न होते हुए भी वारता का पाठ परंपरा में पहले से ही नियत होता है। वारता गाने और कहने की रीति-पद्धति अलग-अलग होती है। फिर भी पात्रों-चरित्रों, प्रसंग-घटनाओं में फर्क नहीं पड़ता। लोककृति के लिए समाज के दृष्टिबिंदु को प्राथमिकता देनी चाहिए। यहाँ भील समाज में 'वारता'के बारे जो दृष्टिबिंदु है, वह समझने का प्रयत्न कर रहे हैं। वारता के वाहक साधु-भोपा का कहना है कि गाने-कहने की पद्धति में बदलाव आ सकता है किन्तु वारता के प्रसंग घटनाओं में फर्क नहीं पड़ता। वारता के राग-ताल-वाणी में फर्क पड़ सकता है किन्तु पँखुड़ियाँ (प्रसंग-घटना) तो ज्यों की त्यों रहनी चाहिए। साधु-भोपा का कहना है कि पँखुड़ियों को बदलने से बीमार पड़ते हैं। वारता गाने से देव-देवी दर्शन देते हैं। वारता गाना ही देवी-देवता की भक्ति है। वारता में कुछ अन्य प्रसंग जोड़ने से वारता गलत हो जाती है। वारता गुरु से प्राप्त होती है। गुरु की सतवाणी को बदल नहीं सकते। वारता गुरु की ब्रह्म वाचा है। (माहितादाता: गुजराभाई धनाभाई गमार, गाँव : मालवास, वजाभाई केहराभाई गमार, गाँव : नवामोटा)

वारता भील समाज के धार्मिक अनुष्ठान, त्यौहार और सामाजिक प्रसंग के खास प्रकार के वातावरण के प्रभाव तले, गायक या कथा-वाचक के कंठ से तथा दर्शक या श्रोताओं के सहयोग से शब्दों द्वारा अपना कलामय स्वरूप धारण करती है।

भील समाज में मंत्र, वही, रेडी और वारता की रचना अतीत में हुई है, किन्तु वर्तमान के साथ उसका घनिष्ठ संबंध है। यह मौखिक परंपरा व्यक्ति को समाज के साथ संबंध स्थापित करती है। वारता भील समाज जीवन की ऊर्जा है। वह संस्कृति-समाज को स्थिर करने में सहायक होती है।

भील समाज में प्रचलित मंत्र, वही, रेडी, वारता सिर्फ जिज्ञासा की तृष्टि करने का या कथाश्रवण या नृत्य का आनंद प्राप्त करने का साधन ही नहीं है, किन्तु समाज के महत्त्व के व्यवहारों को कार्यशील करने का शक्तिशाली माध्यम है। समाज की वास्तविकता संलग्न इन वारताओं का उत्सव, अनुष्ठान और आस्था के साथ घनिष्ठ संबंध है। अतः यह मौखिक परंपरा परिवार और समाज के बीच एकता स्थापित करती है। इस तरह वारता का महत्त्व का उद्देश्य प्रचलित जीवन-प्रणाली का समर्थन, संवर्धन और संरक्षण है।

प्रकरण - ९
भील आदिवासी लोकाख्यान
(गुजराती का हिन्दी सारांश)

पूर्वकाल में आदिवासी लोकाख्यान के मूल और कूल

सम्यता-संस्कृति का विकास एवं प्रसार पूर्व से पश्चिम या पश्चिम से पूर्व की ओर हुआ है उसके विषय में विद्वानों में मतान्तर हैं। एक मत के अनुसार आर्यों ने बाहर से आकर भारत की एक सर्वांग विकसित सम्यता का नाश किया। किन्तु इस मत का कोई ठोस प्रमाण नहीं है। ख्यात पुरावस्तुविद् डॉ. रमणलाल ना. महेता का मत है कि “हिन्दुस्तान में सिंधु नदी की संस्कृति के बाद आर्यों के आगमन का सदी के पूर्वार्ध का मत प्रमाणाश्रित न होने से छोड़ देना चाहिए”^१

आर्यों को बाहरी, यायावर एवं बर्बर माननेवाले विद्वान वेदों में प्रचलित इंद्र और वृत्र के युद्ध को हड़प्पा सम्यता के ध्वंस के साथ जोड़ते हैं, जो सही अर्थों में बरसात एवं बवंडर या बरसात और बिजली का प्राकृतिक रूपक है जिस से मरुत एवं अग्नि जैसे प्राकृतिक वैदिक देव आविर्भूत हुए हैं। वेदों में भी इंद्र का एक अर्थ ‘गर्जना के साथ बरसात के रूप में पृथ्वी पर आनेवाला’^२ होता है।

ऋग्वेद के आर्य पशुपालक कृषक थे अतः अनेक प्राकृतिक रूपकों-प्रतीकों के द्वारा इंद्र-मेघ की आराधना की है एवं उसके वीरत्व की महिमा गाई है।

दास-दस्यु-दानव-द्रविड एवं राक्षस-सर्पनाग, किरात-निषाद-पुल्लिंद जैसी आर्य जाति की समकालीन अनेक जातियाँ भारत जैसे विशाल भूखंड पर भिन्न भिन्न भागों में बसती थीं। आर्यों के नजदीक तीन जातियाँ बसती थीं। सप्तसिंधु में बसती द्रविड या दस्यु-दास-दानव जाति, हिमालय में बसती निषाद जाति। सिंधु सम्यता के उत्खनन से तीन जातियों के अस्थिपंजर प्राप्त हुए हैं।

पास पास बसती इन जातियों के बीच संघर्ष भी हुए हैं परंतु दीर्घ सहवास के कारण संवाद भी स्थापित हुआ है। वैदिक आर्यों का जो स्थानों पर अधिकार था वहाँ भी सब वैदिकधर्म में सम्मिलित नहीं थे। इस विशाल भूमिखंड पर बसनेवालों के अपने अपने रीति-रिवाज और अपने अपने लोकधर्म थे। वे बहुसंख्यक थे। आर्यकुलों में भी अपने अपने मान्य देवता थे। वे उस कुल में विशेष रूप में पूजे जाते थे। वैदिककाल में आर्यों का विस्तार सीमित क्षेत्र में ही था। जो क्षेत्र में उनका अधिकार स्थापित हुआ था वहाँ भी शताब्दियों से अन्य जातियों के लोग बसते थे; जिनकी अपनी धार्मिक मान्याताएँ और परम्पराएँ थीं। वैदिकयुग में प्रचलित लोकपरम्पराएँ वैदिकधर्म की परम्पराओं से ज्यादा सशक्त एवं प्राणवान थीं। शैव और वैष्णवधर्म आर्य

वैदिकधर्म में समाविष्ट हुए उस से पहले लोकधर्म ही थे। इन धर्मों के उपासक आदिवासी लोग थे। नागलोग शैव थे जब सुपर्ण लोग वैष्णव थे। आज भी पौराणिक देवताओं के साथ कितने ऐसे देवताओं की पूजा प्रचलित है जो लोकदेवता थे। लोकमानस ऐसे अनेक देवताओं की कथा का सृजन करके उनका स्थान निश्चित कर लेता है। ये कथाएँ लोकख्यान हैं।

एक बौद्धिक धार्मिक विचारधारा के समान्तर एक लोकविश्वास की धारा निरंतर चलती रहती है। प्रत्येक काल एवं प्रत्येक युग में इसका अस्तित्व रहा है। समय के साथ यह शिष्ट एवं लोक का जीवनदर्शन परस्पर संवाद स्थापित करता है, और एक दूसरे से जीवनामृत प्राप्त करता है।

अथर्ववेद में रुद्र को विनाशकारी कहा है और उसके लिए पहली बार 'पशुपति' शब्द का प्रयोग हुआ है। सांस्कृतिक सम्मिलन के परिणाम स्वरूप हड़प्पा की आर्येतर संस्कृति में पूजित पशुपति शिव आर्यों के देव-मंडल में जिस तरह शामिल किए गए, उसी तरह आर्येतर संस्कृति की देवियाँ भी आर्यों द्वारा पूजित होकर देव-मंडल की शक्तियाँ बन गईं। शिव की शक्ति 'काली' (कृष्ण वर्णा) और 'गौरी' (गौर वर्णा) आर्य-आर्येतर संस्कृतियों के सम्मिलन की ओर इंगित करती हैं। भारतीय संस्कृति के मूल तक पहुँचने के लिए आदिवासी पुराकथाओं -लोकाख्यानों, दार्शनिक प्रतीकों एवं पुराण प्रतीकों को खोजने की आवश्यकता है। "भविष्य पुराण में उल्लेख है कि शिवने 'काली' से कहा :

'एहोहि त्वमित कासि कृष्णांजन समन्विते ।'

'काल सुन्दरि मत्पाश्वे धवले त्वमुपाविश ।'

आओ, इधर आओ, हे कृष्णांजन समन्विते ! तुम कौन हो ? हे काल सुन्दरी धवले ! तुम मेरे पार्श्व में आकार बैठो। शिव के इस संबोधन से 'काली' दुःखी हुई। उसने सोचा कि मैं किस तरह 'गौरी' बनूँ ? फिर उसने अपनी कृष्ण-देह को हवन-कुण्ड की अग्नि को समर्पित कर दिया और पर्वतराज हिमालय के घर गौर वर्ण वाली 'गौरी' के रूप में जन्म लिया।^३ भीलों में प्रचलित सृष्टि की उत्पत्तिकथा (धरण नं मनखा अवतारनी वई) में पार्वती नौ बार अपना मस्तक काटके नौ बार शिव के अंक में डालती है एवं नौ बार अग्नि में जलती है तब शिव पार्वती को पत्नी के रूप में स्वीकारते हैं।^४ यह 'काली' का प्रतीक या चिंतन दो संस्कृतियों के सुभग समन्वय को प्रामाणित करता है। कृष्ण देह अग्नि को समर्पित करने का अर्थ यह है कि आर्यों की यज्ञ-विधि से आर्येतरों की देवी 'काली' 'गौरी' बनके आर्यों में पूजित हुई, और यहीं से 'शक्ति' की सत्ता का विस्तार हुआ।

कुबेरनाथराय अपनी पुस्तक 'निषाद-बाँसुरी' में लिखते हैं 'महिष-बलि, महिषमर्दिनी दुर्गा की पूजा और शीतला की पूजा का उसके आदिरूप में निषाद-संस्कृति से आरंभ होता है।'^५ भीलों की सृष्टि की उत्पत्ति की पुराकथा (मिथक) के अनुसार सृजन के बाद धरती स्थिर नहीं

रह सकती थी। अतः उमियादेवीने महिष का बलि चढ़ाया तब धरती स्थिर हुई।

निषाद या शबर जैसी प्राक् वैदिक प्रजातियों में पूजित काली लावण्यमयी पार्वती बन कर आर्यों की पूजा बन गई है। मातृसत्ताक सभ्यता में पुत्री ही कुलशक्ति का केन्द्र थी। अतः प्रकृति के कराल रूप से मानवीकरण प्राप्त 'काली' ही इस देश की मूल मातृकादेवी है, और उनका भील समाज की देवी अंबा-उमिया-सुंड (चामुण्डा), क्षत्रिय कन्या सीता, द्रौपदी, जेळु, तोळदे, चर्मकार कन्या रूपा और देयाळीबाई में क्रमिक विकास हुआ है। इसी लिए तो देयाळीबाई ही सनातन महामार्ग के अंतिम लोकदेव रामदेव की सहायक शक्ति बनी है। इन देव-देवियों की उपासना एवं महिमा गाने के लिए भील समाज के लोकमानस में अनेक गीत, लोकाख्यान और महाकाव्यों का उद्भव हुआ है।

इस तरह पास पास बसती जातियों में परस्पर संवाद स्थापित होने से समाज-धर्म-जीवनदर्शन एवं साहित्य का समन्वय हुआ। इस सुभग समन्वय से हिंदुधर्म-हिंदुसंस्कृति या भारतीय संस्कृति आविर्भूत हुई। जाति जाति के बीच का यह समन्वय राजपूतयुग या मध्यकाल तक चालू रहा है। आजादी के बाद तो और बढ़ रहा है।

भील आदिवासियों का संबंध निषादों के साथ है, और निषाद पूर्वकालीन भारत में दस हजार वर्ष पहले-प्रागैतिहासिक-काल से बसते हैं। भील समाज के ओझा (भोपा-भूवा) और साधु द्वारा कही जाती पुराकथाएँ और गाए जाते लोकाख्यान एवं लोकमहाकाव्यों में प्रकृति और मानव का घनिष्ठ तादात्म्य देख सकते हैं। इस विद्याशाखा के विद्वानों के मत अनुसार पुराकथा (मिथक) की रचना उस समय हुई जब आदिमानव (प्रागैतिहासिक मानव) और प्रकृति के बीच विभाजक रेखाएँ स्पष्ट नहीं थीं। दोनों एक सार्वमौम जीवन में सहभागी थे। चेतन मानव का मन अज्ञात रूप से प्रकृति की घटनाओं को अपने जीवन की घटनाओं एवं अनुभवों के माध्यम से समझने का प्रयास करता था। समष्टि मन द्वारा प्रकृति ते तत्त्वों एवं घटनाओं के मानवीकरण की यह अचेतन प्रक्रिया ही आदिवासियों के आदिधर्म और उसके संलग्न पुराकथाएँ (मिथक), लोकाख्यानों एवं लोकमहाकाव्यों का मूल है। (जिस की विस्तृत चर्चा गुजराती में की गई है।)

लोकाख्यान के उद्भव के लिए समाज का दृष्टिकोण

मौखिक साहित्य या लोकसाहित्य के स्वरूप लोक के सामाजिक-धार्मिक-आर्थिक प्रयोजन एवं आनंद के लिए होते हैं। ये स्वरूप लोक के सामूहिक मन के सौंदर्यबोध और भावबोध से स्वरूप धरते हैं। अतः लोक के दृष्टिकोण एवं अभिप्रेत अर्थ को प्राथमिकता देकर उनके स्वरूपों को समझना चाहिए।

समाज के दृष्टिकोण से सृष्टि का समयपत्रक

भील समाज के साधु-भोपा सृष्टि के समयपत्रक को चार विभाग में विभाजित करते हैं : (१) धंधुकार (२) जळुकार (३) देवियावाळो और (४) मनखीवाळो ।

धंधुकार में समग्र ब्रह्मांड में सिर्फ अंधकार ही था । जड़-चेतन पदार्थ—कुछ भी नहीं था । घोर अंधकार था (कोर अतार अता) ।

जळुकार में सर्वत्र जल था । भगवान कीड़े के अवतार के रूप में बसते थे । इस समय भगवान, उमिया, शिव जैसे देव-देवी जल से आविर्भूत हुए । भगवान एवं उमियाने साथ में मिलकर सृष्टि की रचना की । ‘धरण नं मनखा अवतारनी वई (सृष्टि रचना की कथा), ‘शिव नं पारवतीनी वई’ जैसी बहियाँ (मिथक) इस समय से कही जाती हैं वैसा भील साधु एवं ओझों का मानना है ।

देवियावाळ में जल से अंबादेवी ने काले-गोरे भैरव, गुणका (गणपति) इत्यादि पुरुष देवताओं का सृजन किया । इस समय ही कुवारका, चामुण्डा, हीरुं, रांपुं, टुटी, टावरी, खांडी, खापरी जैसी नवलाख देवियाँ उत्पन्न हुईं और पाताल में बसते वासुकीनाग के फन से देवियाँ बरगद एवं बाँस के बीज पृथ्वी पर ले आईं । अतः पृथ्वी पर वनस्पति-सृष्टि का आरंभ हुआ । इस समय से ‘नवलाख देवीओनी बई’, ‘देवरानी वारता’, ‘कोबरिया ठाकुरनी वारता’ इत्यादि धार्मिक कथाएँ कहने का आरंभ हुआ ।

मनखीवाळ में भूचर, खेचर जीवसृष्टि—प्राणी, पक्षी, मनुष्यसृष्टि का उद्भव हुआ । इस समय (मनखीवाळ में) ‘करमीरानो अरेलो’, ‘मरणनो अरेलो’, ‘गुजरांनो अरेलो’, ‘पोळी पमरूलीनो अरेलो’, ‘वझिया हिरोइयानो अरेलो’, ‘रणमोलनो अरेलो’, ‘ईडरना रायपोणनो अरेलो’, ‘वडेरांनो अरेलो’, ‘खातरा झालानो अरेलो’, ‘राझु-कोदरवणनो अरेलो’ इत्यादि मौखिक साहित्य कहने एवं गाने का आरंभ हुआ ।

इस तरह भीलों का आरंभ का धंधुकार, जळुकार, देवियावाळ का समय प्रागैतिहासिक-युग का सूचन करता है । उसको भील समाज ‘सतजुग’ भी कहता है । इस समय मौखिक मंत्र, बही, वारता (जिनको इस विद्याशाखा के विद्वान पुराकथा - मिथक -दंतकथा कहते हैं उनको भील साधु बही, वारता, अरेलो कहते हैं) इत्यादि का मौखिक रूप में सृजन हुआ है ।

‘मनखीवाळो’ ऐतिहासिक एवं वर्तमान समय का निर्देश करता है । उसको ‘कळजुग’ (कलयुग) भी कहते हैं । इस समय में ऐतिहासिक अरेला, काँणी (लोककथा), ‘वातो’ इत्यादि की रचना हुई ।

विषय की दृष्टि से भील समाज के मौखिक साहित्य को दो बड़े विभागों में विभाजित कर सकते हैं : सामाजिक साहित्य और धार्मिक साहित्य । धार्मिक साहित्य ऋतुचक्र के मुताबिक आते पर्व-प्रसंग—जैसे कि होली , गोर, दिवाली, धूला का पाट (महामार्गी पाट), कोबरिया ठाकुर का पाट इत्यादि के संलग्न होता है । सामाजिक साहित्य जीवनचक्र के अनुसार आते जन्म, लग्न, मृत्यु जैसे सामाजिक प्रसंगों के संलग्न होता है । भील आदिवासी लोकाख्यान खास

करके ऋतुचक्र के मुताबिक आते उत्सवों के संलग्न होते हैं। ऐसे लोकाख्यान भील समाज में 'वारता' के नाम से प्रचलित हैं।

भीली मौखिक साहित्य में 'कथा' शब्द प्रचलित नहीं है किन्तु 'वारता' शब्द प्रचलित है। भील समाज में आख्यान या महाकाव्य जैसी मध्यम या दीर्घ संगीत प्रधान पद्य-गद्य मिश्रित वारताएँ प्रचलित हैं। ऐसी वारताएँ स्वर तंतुवाद्य तंबूर या ताल चर्मवाद्य 'सांग' के द्वारा वैदिकयुग के ऐतिहासिक या पौराणिकों की तरह भील साधु और ओझा शुद्ध एवं अशुद्ध (अशुद्ध अनुष्ठान में पशु का बलि चढ़ाया जाता है) धार्मिक अनुष्ठानों के समय गाते हैं।

आदिवासी लोकाख्यानों के सृजन स्रोत

भील लोकाख्यानों की रचना पूर्वकाल में हुई है। इसके उपरान्त आसन्न भूतकाल में घटित हृदयस्पर्शी प्रसंग भी लोकश्रद्धा के प्रभाव तले देवत्व प्राप्त करके भीली लोकाख्यानों का स्वरूप धारण करते हैं। 'रूपारोणीनी वारता', 'तोळीरोणीनी वारता', 'सतिया खातुनी वारता', 'हाला-हूरानी वारता' जैसे भक्त-चरित्र भी महामार्गी भक्ति के प्रभाव तले भीली लोकाख्यानों का स्वरूप धारण करते हैं। ऐसे ऐतिहासिक चरित्रों का विकास महामार्गी धर्मदर्शन प्रगट करने के लिए होता है।

लोकाख्यान संलग्न लोकवाद्य

भीली लोकाख्यान-लोकमहाकाव्य या वारता स्वरवाद्य तंबूर या तालवाद्य सांग के साथ गाये या लयात्मक गद्य में कहे जाते हैं। लयात्मक-रागात्मक गेयतत्त्व एवं नृत्य भीली लोकाख्यान के आधिकारिक लक्षण हैं। अभिनय भी उसका एक गौण लक्षण है। प्रसंग के साथ तद्रूप बना कथक और बहुत वार श्रोता-दर्शक भी अभिनय के द्वारा प्रसंग को बहलाते हैं। ऐसे भीली आख्यान लोकवाद्यों के संग में कथक या गायक के कथनों द्वारा स्वरूप धरते हैं।

गुजराती आख्यान से भीली लोकाख्यान का भिन्न स्वरूप

गुजराती प्राचीन या मध्यकालीन आख्यान से भिन्न भीली वारता या आख्यान का प्रमुख लक्षण यह है कि भीली वारता-लोकाख्यानों की रचना भले ही भूतकाल में हुई हो किन्तु उनका अनुबंध-प्रत्यक्ष संबंध वर्तमान भील समाजजीवन-लोकजीवन के साथ होता है। ऐसे लोकाख्यान साम्प्रत समाज के साथ ओतप्रोत होते हैं। भीली लोकाख्यानों का महत्त्व का उद्देश्य ऋतुचक्र एवं जीवनचक्र के अनुसार आते धार्मिक-सामाजिक पर्व-प्रसंगों के संलग्न धार्मिक अनुष्ठानों और सामाजिक संस्कारों को सक्रिय करने का एवं संरक्षण करने का होता है।

लिखित महाकाव्य को सर्ग या पर्व में और आख्यायिका को उच्छ्वास में विभाजित किए जाते हैं। इस तरह भीली लोकाख्यान एवं लोकमहाकाव्य (वारता) फूल की पंखुड़ी में विभाजित किए जाते हैं। ये पंखुड़ियाँ समाज-जीवन के पर्व-प्रसंगों के संलग्न होती हैं। भादों मास

में महामार्गी पाट की भक्ति का वातावरण होता है। ऐसे प्रसंग पर 'रूपाराणी', 'तोळाराणी', 'सतियो खातु' इत्यादि भक्तिप्रधान वारताएँ एवं 'भारथ' (भीली महाभारत) से पाण्डव पाताल में भक्ति निमंत्रित करने के लिए गए वह पँखुड़ी गाई जाती है।

आसो माह में समाधि, शंखोद्वार जैसी मरणोत्तर धार्मिक क्रिया-विधियाँ की जाती हैं। स्वजनों का शोक एवं रुदन एक विशेष प्रकार का वैराग्य भरा वातावरण सर्जित करता है। ऐसे प्रसंग पर राजपाट छोड़कर वैराग्य धारण करते गोपीचंद एवं भरथरी की वारता की पँखुड़ियाँ गाई जाती हैं।

'शूरा' को स्थापित करते समय 'शूरा' की मूर्ति के समक्ष रखा शत्रु का मस्तक एवं रुधिर सगोत्रीय लोगों के मानस में विजय का उन्माद जगाता है, अतः एक विशेष प्रकार का ओजपूर्ण वातावरण सर्जित होता है। ऐसे वातावरण में 'रोम-सीतामानी वारता' (भीली रामायण) से भील साधु 'रावणवध' और 'भारथ' (भीली महाभारत) से पाण्डव-कौरव की वीररस भरी युद्ध की पँखुड़ियाँ (प्रसंग) गाता है। ऐसे लोकाख्यान बैर की वसूलात के लिए अन्य गोत्र के लोगों को उत्तेजित भी करते हैं। वर्ष का ऋतुचक्र पूर्ण होता है और प्रत्येक पँखुड़ी विकसित होकर वारतारूपी फूल बनता है। साधु एवं समाज की श्रद्धा है कि फूल तो मुरझा जाता है। किन्तु वारता सुवास के रूप में पृथ्वी पर अमर हो जाती है। वारता कालजयी हो जाती है।

ऐसे लोकाख्यानों का प्रमुख लक्षण ऋतुचक्र और जीवनचक्र के अनुसार आते पर्व-प्रसंगों के धार्मिक अनुष्ठानों एवं सामाजिक प्रसंगों को क्रियाशील करके व्यक्ति जीवन को सामाजिक-जीवन में स्थिर करनेका होता है। वर्तमान लोकजीवन को धार्मिक एवं सामाजिक उत्सवों के साथ जोड़ने का होता है। जब कि लिखित गुजराती आख्यानों का उद्देश्य प्राचीन कथा के रसस्थानों को बहलाके-विकसित करके श्रोताजनों को रसनिमग्न करके आनंद देनेका होता है। वर्तमान लोकजीवन के साथ उसका प्रत्यक्ष संबंध नहीं होता।

भीली लोकाख्यान : समाज की संपदा

लोकाख्यान साधु या ओझा गाता है या कहता है किन्तु वह किसी एक व्यक्ति की संपदा नहीं होता। लोकाख्यान की मालिकी सुनने के लिए इकट्ठा हुए लोकसमुदाय की होती है। अतः लोकसमुदाय अनुष्ठान की विधि और उसके संलग्न लोकाख्यान गाने में सहभागी होता है। साधु या ओझा की सन्मुख हमेशा-उसके श्रोता-दर्शक रहते हैं। वे आख्यान का श्रवण करते हैं। गाते हैं, नाचते और आख्यान कहने में साधु या ओझा को मदद करते हैं। सामुदायिकता एवं सहभागीता भीली वारता या लोकाख्यान लोकमहाकाव्य के अन्य महत्त्व के लक्षण हैं।

धूला के पाट और कोबरिया पाट के प्रसंग गाई जाती वारता (लोकाख्यान) का स्वरूप
उत्तर गुजरात के भील प्रदेश में वारता ऋतुचक्र के अनुसार आनेवाले भिन्न महीनों में अलग

ढंग से गाई और कही जाती है। एक तो भादों (भाद्रपद) माह में 'धूळा (धूला) के ठाकुर के पाट' (महामार्गी पाट) के प्रसंग में तंबूर के साथ गाई और कही जाती है। दूसरे, कोबरिया ठाकुर के पाट' (कोळी) के साथ सांग (राजस्थानी घेर-डफली से छोटा थाली जैसा चर्मवाद्य) पर वारता (लोकाख्यान) नृत्य के साथ सिर्फ गाई जाती है। दोनों प्रसंग भीलों के धार्मिक अनुष्ठान के साथ जुड़े हुए हैं। धूळा का पाट चोखा (शुद्ध) और अत्यंत पवित्र अनुष्ठान है जब कि कोबरिया पाट भीलों का मैला (अशुद्ध) धार्मिक अनुष्ठान है। परिणामतः दोनों प्रसंगों पर गाई जाती वारता का धार्मिक वातावरण भिन्न प्रकार का होता है। वारता की मूल घटनाएँ एक जैसी होते हुए भी माह और प्रसंग अलग अलग होने के कारण तत्कालीन धार्मिक वातावरण में बदलाव होता है। इससे लोकसमुदाय की मनःस्थिति में भी परिवर्तन आता है।

भादों मास में नदी-नाले जल से भर जाते हैं। अच्छी फसल से लोग संतुप्त होते हैं। यह सब समृद्धि धूळा के ठाकुर या परमात्मा की असीम कृपा का परिणाम है। अतः भील समुदाय का सामूहिक मन कृतज्ञ भाव से भर उठता है। परिणामस्वरूप भील क्षेत्र में अध्यात्म और भक्ति का वातावरण छाने लगता है। अतः भील लोग, परिवार और मवेशियों के सुख के लिए भादों महीने में पवित्र धूळा के ठाकुर के पाट का अनुष्ठान करते हैं। इस अनुष्ठान के पवित्र होने के कारण पूर्णाहुति के समय पशुबलि चढाई नहीं जाती। धार्मिक विधि-विधान के साथ रूपारानी, तोळीरानी, राम-सीता इत्यादि चरित्रों के जीवन के शान्तरस से परिपूर्ण प्रसंग पूरी रात साधुमंडली द्वारा तंबूर और मंजीरे की संगत में गाए और कहे जाते हैं।

माघ के महीने की शीतऋतु में कोई खास व्यक्ति से हुए अपराध के निवारण के लिए भील लोग कोबरिया ठाकुर का धार्मिक अनुष्ठान करते हैं। धूळा का ठाकुर शान्त और पवित्र देव है जब कोबरिया ठाकुर मैला (अशुद्ध) और ऋग्वेद के रुद्र जैसा क्रोधी देव है। जो लोग चोरी करते हैं, हराम का लूटते हैं, उनके पीछे ओझा (भूवा) माल वापस लाने के लिए कोबरिया ठाकुर को भेजता है। अतः कोबरिया पाट के अनुष्ठान के समय अपराधी व्यक्ति पर कोबरिया ठाकुर का कोप उतरता है। परिणामतः राम-सीतमानी वारता के सीताहरण के बाद के 'लंकादहन', 'रावणवध' और 'अमरज्योत' जैसे ओज-वीररसप्रधान बलि के पोषक प्रसंग ओझा-मंडली द्वारा सांग, बंसी और सारंगी पर गाए जाते हैं। इसी तरह एक ही समाज के लोकसमुदाय के चित्त दोनों अलग अलग प्रसंगों में भिन्न मनःस्थिति धारण करते हैं। अतः दोनों प्रसंगों पर गाई जाती मौखिक रामकथा एवं पाण्डवकथा की प्रस्तुति और स्वरूप में काफी अंतर हो जाता है।

धूळा के पाट के समय भक्ति का वातावरण होने से तंबूर पर साधु रामकथा एवं अन्य वारताएँ गाता है। ये खास करके 'बैठकिए भजन' के रूप में विलंबित स्वर में होती हैं।

ब्राह्ममुहूर्त में साधुमंडली मंडल की रचना करती है। इसके लिए प्रमुख साधु सवा हाथ का

सफेद और लाल कपड़ा गाय के गोबर से लीपी गद्दी (जमीन) पर बिछाता है। सफेद कपड़ा शिव का और लाल कपड़ा शक्ति (पार्वती-उमिया) का प्रतीक होता है। कपड़े पर साँवों के दानों से चन्द्र, सूरज, चौरासी साधु, पाँच पांडव, पाड़ोर गाय, वासुकी नाग जैसे धार्मिक प्रतिकों की रचना करता है। तत् पश्चात् सितरी ज्योत (शीतल ज्योति), भंडारी द्वारा भरे जा रहे चूरमे के कुंडे एवं गुरु-चेला बनाने की क्रिया तथा मंत्रोंच्चार के साथ चढ़ाए जाते नारियलों से एक विशेष प्रकार का पवित्र धार्मिक वातावरण निर्मित होता है। साधुमंडली राम के पूर्वजीवन के प्रसंग-घटनाओं को शान्त चित्त से खुल कर गाती है।

कोबरिया ठाकुर के पाट के प्रसंग में ब्राह्ममुहूर्त में ओझा गाय के गोबर से लीपी गई गद्दी पर किनखाब का लाल कपड़ा बिछाता है। उस पर लाल चावल (अहुरी) बिछाकर ओझा कोबरिया ठाकुर की प्रतिमाओं को प्रस्थापित करता है। शंखघोष होते ही ओझा अभुआने लगता है। क्रोधी देव कोबरिया ओझा के शरीर में प्रवेश करता है। अतः रामकथा एवं अन्य वारता की घटना ओझा के आवेश से आविर्भूत होती है। प्रसाद के रूप में ली गई शराब आवेश को बहलाती है और आवेश क्रोध और दर्प में परिवर्तित होता है। सांग जैसे चर्मवाद्य, सारंगी जैसे तंतुवाद्य, बंसी एवं शंख जैसे सुषिरवाद्य की संगत क्रोध ओर आवेश की सहायक और पोषक बनती है। लोकवाद्यों की संगति से रामकथा नृत्य के साथ द्रुत स्वर धारण करती है। कथा द्रुत एवं आवेशपूर्ण होने से सीताहरण के बाद के लंकादहन, रावणवध, अमरज्योत के साथ राम के उत्तर जीवन के वीररस भरे प्रसंग ओजपूर्ण स्वरों में गाये जाते हैं।

इन प्रसंगों में ब्राह्म मुहूर्त में किए जाते विधि-विधान ज्यादा सहायक होते हैं। पके चावल के मेरु-सुमेरु पर्वतों की रचना, पहाड़ों पर प्रकट की गई दीपमाला, मूर्च्छित लक्ष्मण के लिए अमरज्योत लेने के लिए हनुमान का मेरुसुमेरु की ओर दौड़ना, पके चावलों का पहाड़ आरोगना, ओझा की देह में आधिभौतिक तत्त्व कोबरिया देव का प्रवेश करना एवं पीठ पर जंजीर मारना जैसे विशेष धार्मिक वातावरण के बीच रामकथा एक लाक्षणिक नाट्यत्मक रूप धारण करती है। नृत्य एवं संगीत से उसकी प्रस्तुति ज्यादा द्रुत एवं सजीव बनती है।

भीली लोकमहाकाव्य से भिन्न भीली लोकाख्यान का स्वरूप

प्रकरण - ५ में उल्लेख किया है कि धार्मिक साहित्य-गीत, कथागीत, लोकाख्यान लोकमहाकाव्य जैसे मौखिक स्वरूप तो गायक या कथावाचक के चित्तमें पहले से ही स्थित होते हैं। उनको बाहर स्वरूप धरने में सामाजिक - धार्मिक उत्सव - प्रसंगों का वातावरण उद्दीपक का काम करता है। जन्म, लग्न, मेले जैसे थोड़े जिन चलता समाजिक प्रसंग होता है तो सामाजिक संस्कारों के साथ गाए जाते गीत या गीतकथा लघु स्वरूप धरते हैं। प्रसंग धार्मिक होता है तो गीत धार्मिक अनुष्ठान एवं लोक की प्रबल आस्था संलग्न होकर गीतात्मक पुराकथा (मिथक)

का स्वरूप धारण करता है। दीपावली, गोर (गौरी), धूला का पाट, कोबरिया ठाकुर का पाट जैसे धार्मिक उत्सव अनेक दिन चलते हैं। अतः पुराकथा (मिथक) सुदीर्घ बनकर महाकाव्य का स्वरूप धरती है।

मौखिक महाकाव्य (दीर्घ वारता) के स्वरूप में दो-चार पीढ़ियों के प्रसंग-घटना की अनेक पँखुड़ियाँ होती हैं, जो कथावाचक या गायक के गेय कथन द्वारा भिन्न चरित्रों का विकास करती हुई और अनुष्ठानों के सांनिध्य में धार्मिक आस्था से प्रभावित श्रोता-दर्शकों को रसानंद देती हुई विकसित होती हैं तथा प्राचीन एवं वर्तमान समाज के रीति - रिवाज, विधि - विधानों, धार्मिक आस्थाएँ और सामाजिक परम्परित विश्वासों को प्रस्तुत करके समाज के वर्तमान लोकजीवन को सक्रिय करती हैं। अतः ऐसे समग्र जीवन को लेकर चलते स्वरूप के लिए 'लोकमहाकाव्य' या 'मौखिक महाकाव्य' नामाभिधान योग्य है। भील संस्कृति-समाज-साहित्य के संदर्भ में सोचते हैं तब दीर्घ मौखिक परंपरा में प्रचलित ऐसे स्वरूप के लिए 'दीर्घ भजनवारता' या 'दीर्घ वारता' नामकरण भी सार्थक है।

जब कि मध्यम कद के धर्ममूलक वारता स्वरूप में व्यक्तिजीवन के महत्त्व के प्रसंग या घटना की मर्यादित पँखुड़ियाँ होती हैं जो गायक, कथा-वाचक के गेय कथन द्वारा खास खास जीवन अंशों को विकसित करती हुई शुद्ध-अशुद्ध धार्मिक अनुष्ठानों के सांनिध्य में धार्मिक आस्था से प्रभावित श्रोता-दर्शकों को रसानंद देती विकसित होती हैं। ऐसे मध्यम कद के लोकाख्यान (वारता) स्वरूप में घटना- प्रसंगों का कार्यवेग त्वरित होता है। व्याप की दृष्टि से मध्यम स्वरूप में लोकमहाकाव्य या लिखित प्रशिष्ट महाकाव्य में होता है वैसा विवाह, राजकचहरी, आक्रमण, युद्ध, जलाशय इत्यादि का वर्णन करने का समय कथावाचक या गायक को होता नहीं। मौखिक महाकाव्य में कथावाचक या गायक प्रत्येक प्रसंग - घटना की पँखुड़ियों को विस्तार से कथता हुआ आगे बढ़ता है। आरंभ में श्रोता-दर्शकों की जिज्ञासा जगाके मूल विषय पर लाने के लिए मनोरंजक बातें (टोळकां -बात) भी कहता है। एसा समय मध्यम कद स्वरूप लोकाख्यान के गायक या आख्यान-वाचक को नहीं होता। वह अपनी गेय पद्य एवं रागात्मक गद्य कथनकला का उपयोग वारता के चरित्रों के जीवन के महत्त्व के अंशों को कथने में करता है। अतः आख्यान-वाचक आरंभ में गणपति एवं शारदा के स्मरण के बाद सीधा मौखिक आख्यान के मुख्य विषय पर आता है। जब कि मौखिक महाकाव्य में मुख्य गायक सहभागी 'हुँकारसी' एवं रागियों को उत्साहित करने और दर्शक श्रोताओं को मूल लोकाख्यान में रसनिमग्न करने के लिए अवान्तर कथा भी कहता है। सुदीर्घ स्वरूप होने से महाकाव्य अनेक दिन तक गाया जाता है (मौखिक महाकाव्य की स्वरूपगत चर्चा इसके बाद अलग प्रकरण में की जायेगी) जब कि मध्यम कद के संगीत प्रधान लोकाख्यान (वारता) धूला के पाट के प्रसंग पर या कोबरिया ठाकुर के पाट के पर्व पर गाए जाते हैं। ऐसे

लोकाख्यान शुद्ध - अशुद्ध धार्मिक अनुष्ठानों को लक्ष्य में रखकर एक रात के लिए गाए जाते हैं । अतः धार्मिक अनुष्ठान के पोषक प्रसंग के अनुसार मौखिक रूप मध्यम कद स्वरूप ही धारण कर सकता है । अतः धर्माश्रयी ऐसे वारतामूलकसंगीत प्रधान स्वरूप के लिए 'लोकाख्यान' या 'मौखिक आख्यान' नामाभिधान योग्य है । भील समाज में ऐसे स्वरूप के लिए 'टूकी भजनवारता' (छोटी भजनवारता), या 'टूकी वारता' (छोटी वारता) नामकरण प्रचलित है । भील समाज जीवन के संदर्भ में ये सहज रूढ़ हुए नामकरण भी कायम रखकर उसके स्वरूप के बारे में सोचना चाहिए । भील समाज में 'रूपांरोणीनी वारता', 'तोळीरोणीनी वारता', 'देवरानी वारता', 'कोबरिया ठाकुरनी वारता' इत्यादि तथा दिवाली के पर्व-प्रसंग पर गाए जाते 'नवलाख देवीओनो अरेलो', 'करमीरानो अरेलो' इत्यादि ऐसे लोकाख्यान हैं । जो इस संशोधकने समय समय पर संपादित किए हैं ।

संदर्भ

१. '२०मी सदीना गुजरातमां थयेलां प्राग अने आद्य-ऐतिहासिक अन्वेषणो अने उत्खननो' - वक्ता - डॉ. रमणलाल ना. महेता अने डॉ. विलास एच. सोनवणे - गुजरात इतिहास परिषद, ११मुं ज्ञानसत्र, केशोद
२. भगवद्रोमंडल
३. १-२ मडई - २०००, संपादक : डॉ. कालीचरण यादव, पृ. १३४
४. अरवल्ली पहाडनी आस्था, भगवानदास पटेल, १५-१६
५. १-२ मडई - २०००, संपादक : डॉ. कालीचरण यादव, पृ., १३४

प्रकरण - १०
भील आदिवासी लोकमहाकाव्य
(गुजराती का हिन्दी सारांश)

संस्कृति - समाज के साथ लोकमहाकाव्य का अनुबंध

संस्कृति

समाजशास्त्री एवं नृवंशविज्ञानी मान वसमूह की समग्र जीवनरीति - याने कि उसका रहन-सहन, प्रथा-परंपरा, आस्था, धार्मिक अनुष्ठान एवं सामाजिक विधि-विधान, चैतसिक व्यापार, मान्यता, वाणी, मौखिक परंपरा, आदतें इत्यादि की विरासत को संस्कृति (Culture) कहते हैं। अतः लोकमहाकाव्य 'लोक'की पूर्वकालीन संस्कृति-समाज की पृष्ठभूमि से स्वरूप धारण करता है। परिणामतः आदिवासी लोकमहाकाव्य के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए आरंभ में पूर्वकालीन भील आदिवासी समाज के स्वरूप को समझना चाहिए। जिसकी विस्तृत चर्चा प्रकरण - ४ में की गई है। यहाँ भील लोकमहाकाव्य के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए उसके सृजन - स्रोत का पुनः विहंगावलोकन किया गया है।

लोकमहाकाव्यों के विधायक सामाजिक स्रोत

एक निश्चित भूभाग में बसते, एक ही भाषा-बोली बोलते, सुरक्षा के लिए संगठित रहते, स्वतंत्र अर्थव्यवस्था और समान भावनावाले, स्वायत्त समाज और विशिष्ट संस्कृति वाले इस सरल समुदाय में पूर्वज या वंश का प्रभुत्व धीरे धीरे बढ़ता जाता होने से आज तो आदिवासी समाज में पुरुषसत्ताक परिवार व्यवस्था अस्तित्व में आई है। फिर भी भील समाज में स्त्री-पुरुष की सहभागिता अखंड बनी रही है। अतः पुरुष के अहं से स्त्री के व्यक्तित्व का हनन नहीं हुआ है।

भील आदिवासी सांप्रत समाज पितृसत्ताक, पितृवंशी और पितृस्थानी होते हुए भी स्त्री का स्थान ऊँचा है। पुत्रीजन्म के अवसर पर पुत्रजन्म समान ही खुशी व्यक्त करने के लिए झालर और ढोल बजाकर नृत्य किया जाता है और परिवार में गुड़ बाँटा जाता है।

भील परिवार में बिना लिंग भेद ही कन्या का लालन-पालन किया जाता है। समाज में 'कन्या शुल्क' की प्रथा होने से बहुत से प्रसंगों में कन्या को अधिक स्नेह दिया जाता है।

विवाह के अवसर पर कन्या के पिता को दिया जाता 'कन्याशुल्क' न हो तो पति को ससुरगृह जाकर कृषि का काम करना पड़ता है। 'कन्याशुल्क' के बराबर मजदूरी हो जाने के बाद ही पिता अपनी पुत्री का विवाह दुलहे के साथ रचाता है।

वर्तमानकालीन भील आदिवासी

आदिवासी लोकसाहित्य की पृष्ठभूमि को विशदता से स्पष्ट करने के लिए सांप्रत समयके भील आदिवासियों के सामाजिक-धार्मिक जीवन का अध्ययन किया गया है। मानवशास्त्र और समाज शास्त्र के शोध-अनुसंधान से अब तक यह पूरा क्षेत्र अछूता है। अतः इस शोधार्थी ने विगत

२५ वर्षों से भील समाज को नजदीक से देखा है, परखा है। वर्ष के ऋतुचक्र के मुताबिक आते सामाजिक-धार्मिक पर्व-प्रसंगों में सहभागी होकर लिखी दो पुस्तकें 'डुंगरी भील आदिवासीओं' और 'आदिवासी ओळख' के आधार पर 'आदिवासी मौखिक साहित्य की पृष्ठभूमि' के अंतर्गत वर्तमानकालीन भील आदिवासी समाज का अध्ययन किया है।

पूर्वकालीन आदिवासी समाज आदि - स्त्री-पुरुष पूर्वज के वंश से विकसित होकर कुटुंब-कुल-गोत्र के रूप में विकेन्द्रित गाँवों में फैलाता है। यह सरल समाज कुल या गोत्र के सगे-संबंधियों से बनाता है। अतः जंगल, जमीन और जल के स्रोतों का अधिकार वैयक्तिक न होकर स्त्री-पुरुष से बने पूरे समाज का होता है।

पूर्वजप्रेम, पूर्वजपूजा और पूर्वज की ओर सम्मान की भावना होने से पूर्वजों की धरती की फसल और धरती बेच नहीं सकते। किन्तु पूर्वज और गोत्रदेवी-देवता की पूजा करके भेंट चढ़ाने के बाद फसल का समूह में उपयोग-उपभोग हो सकता है। पूर्वजों ने धरोहर में दी धरती से प्राप्त चीज-वस्तुओं का विनिमय होता है किन्तु बेची नहीं जाती।

आदिवासी समाज सहकार और सहभागिता की नींव से आविर्भूत होने से समाज की प्रत्येक जीवनरीति और क्रिया-कलापों में सहभागिता और सहयोग के दर्शन होते हैं। इस समाज में जन्म से लेकर मृत्यु तक की प्रत्येक सामाजिक और धार्मिक प्रवृत्तियाँ सहयोग से की जाती हैं। एक ही वंश, कुल या गोत्र के रिस्तेदारों से रचित यह समाज या 'लोक' घर एक-दूसरे के सहकार से रचते हैं, योगक्षेम की प्रवृत्तियाँ जैसी कि खेती-कृषी और पशुपालन एक दूसरे के सहयोग से करते हैं और शिकार भी सामूहिक ढंग से करते हैं। शत्रु और आपातकालीन परिस्थितियों का सामना भी सामूहिक रूप में करते हैं। आदिवासी समाज में समान जीवनरीति वाले अनेक गोत्र होते हैं।

प्रत्येक सामाजिक विधि में स्त्री, पुरुष के समान ही सहभागी होती है। पुत्री या पुत्र की मंगनी माता की संमति बिना तय नहीं होती। विवाह के अवसर पर माता के 'सामैये' (परछाने) के बिना विवाह संपन्न नहीं होता। पितृगृह से प्राप्त भेंट पर स्त्री का अधिकार होता है।

भील आदिवासियों में बहुपत्नीत्व की प्रथा अस्तित्व में होने से पत्नियों के मुताबिक जमीन-जायदाद बाँटी जाती है। सामाजिक सम्मान की दृष्टि से पति के लिए पत्नी कीर्ति है, आबरू है।

सम्बन्ध विच्छेद के बाद भी स्त्री बच्चों की देख-भाल करने के लिए पुराने पति के घर भी आती-जाती रहती है। नया पति उसका विरोध नहीं करता।

विधवा हो जाने के बाद भी भील स्त्री अपने मूल पति के घर दूसरा पति ला सकती है और सामाजिक-आर्थिक अधिकार प्राप्त करके घर की स्वामिनी बन सकती है। नये पति को यौन संबंध स्थापित करने और संतानों को पालने के अलावा कोई विशेष अधिकार प्राप्त नहीं होता। महामार्गी धार्मिक पाठ के अनुष्ठान में स्त्री गुरु के स्थान पर होती है। सभा को उसका आदेश स्वीकार्य होता है।

धार्मिक-सामाजिक पर्व-प्रसंगों और विधि-विधानों में स्त्री और पुरुष का सहयोग दर्शनीय होता है।

भील समाज में साम्प्रत में प्रचलित ऐसी सामाजिक -धार्मिक बाबतें उनकी पूर्वकालीन मातृसत्ताक समाजव्यवस्था और

जीवनरीति को प्रगट करती हैं। और ऐसी मातृसत्ताक जीवन-रीतियों का प्रभाव उनके महामार्गी धार्मिक जीवनदर्शन, धार्मिक अनुष्ठान और विधि-विधान तथा 'भारथ', 'रोम-सीतमा' जैसे लोकमहाकाव्य एवं 'तोळीरोणी', 'रूपारोंणी' जैसे लोकाख्यानों के विधायक परिबल या सृज नस्त्रोत हैं।

लोकमहाकाव्य के चरित्रों के साथ समाज का अनुबंध

मौखिक साहित्य का वाहक होता है, उसका वैयक्तिक सर्जक नहीं होता, और अगर होता भी है तो वह 'व्यक्ति' न रह करके 'समाज' बनकर रह जाता है। वह संबंधित समाज की सामाजिक तथा धार्मिक परंपरा को मानस में लेकर जीता है। इस परंपरा के साथ उसकी प्रगाढ़ धार्मिक आस्था का अनुबंध होता है। ऋतुचक्र के साथ जुड़े हुए उचित सामाजिक प्रसंग पर लोकसमूह के बीच उसके मानस में स्थित परंपरा में से निसृत होकर कंठस्थ साहित्य कलामय रूप धारण करता है।

बहुत बार भील मौखिक लोकाख्यानों में आते देव-देवियों के चरित्रों के साथ वाहक-गायक एवं श्रोताओं का इतनी हद तक तादात्म्य होता है कि वे स्वयं वही देवी-देवता बन जाते हैं और उनकी देह में संबंधित देवी-देवता का भाव प्रगट होता है और इकट्ठे हुए लोकसमुदाय को आशीर्वाद भी देते हैं।

मैं १९८३ में डुंगरी भीलों का धार्मिक कंठस्थ महाकाव्य 'गुजरांनो अरेलो' ध्वनिमुद्रित कर रहा था तब बहुत दिनों से धार्मिक चरित्रों के साथ तदाकार बने गायक जीवाभाई गमार स्वयं प्रमुख चरित्रनायक देवनारायण कैसे बन गये थे; वह प्रसंग यथातथ अंकित करने का लोभ यहीं रोक नहीं सकता।

अरेले के उत्तरार्ध में देवनारायण का अंतिम प्रसंग आया। रात आठ बजे जीवाभाई की झोंपड़ी में देवनारायण मौखिक महाकाव्य का अंतिम अंश सुनने के लिए लोकसमुदाय इकट्ठा हुआ। सारी रात लोग प्रबल धार्मिक आस्था से धार्मिक प्रसंग-घटनाओं के साथ डूबते - तैरते रहे। सुबह सूर्य की किरणों में पितृ बैर की समाप्ति के बाद देवनारायण के डोळीराण नगरी के गाड़ने का प्रसंग पूर्ण होने के साथ ही गायक की देह में एक आधिदैविक भाव प्रगटा। चारों ओर एकत्रित दर्शक-श्रोता जोर जोर से हुँकारी भरने लगे और गायक मानों स्वयं देवनारायण हो गये ! उनके सन्मुख एक पत्थर रखकर गत रात लाए श्रीफल चढ़ाये गये। दर्शक-श्रोता देव को मनुहार करने लगे, "खम्मा मालकांन ! अमार भली करझे देवजी कुंवर ! अमे तो अवरएं बोलीएं नं गवरएं बोलीएं, पोण तुं स अमारो बेलु (बोली) हैं ! थार वेंणुं (तेरे बिना) तो तखलुंय

(तृण भी) तोरी हकीएं नें !” (“खम्मा मालिक को ! हमें कुशल रखना देवनारायण कुंवर ! हम तो अच्छा भी बोलें और बुरा भी बोलें । किंतु तू ही हमारा बेली है । तेरे बिना तो एक तृण भी तोड़ नहीं सकते ।”)

जीवाभाई, कि जो अभी चरित्र नायक देवनारायण बन गये थे; आशीर्वचन बोल रहे थे, “तमे बताए केंणा दि’ ही मारो सेवाभाव करो हें, झो’ला तमार बत्तानुं खेमाकहोर (क्षेमकुशल) थाहें ! लीली वारी फूलहें ।” मेरी ओर देखकर उन्होंने कहा था, “थारुंय रोमा सोमा (राम राज्य) थाहें !” (तुम्हारे परिवार की हरी बाड़ी पुष्पित होगी ।” फिर मेरी ओर देखकर कहा था, “तुम्हारा भी रामराज्य होगा !”)

उस दिन लगा था कि मुझे अब किसके आशीर्वाद की आवश्यकता थी ?!

वाहक का संगीत के वाद्यों के साथ अनुबंध

जब तक धार्मिक लोक-महाकाव्यों का संबंध है तब तक वाहक या गायक का परंपरा के साथ का सायुज्य सिर्फ कथा के पात्रों या चरित्रों के साथ ही होता है ऐसा नहीं है । उसके पारंपरिक संगीत के साधनों के साथ भी होता है । इस बाबत को समझने के लिए गुजरात के खेड़वा गाँव के नाथाभाई गमार के मुख से ‘भीलों का भारथ’ ध्वनिमुद्रित करता था तब घटित घटना यहाँ अंकित करता हूँ :

भादो मास की एक मेघाच्छन्न साँझ; हम दोनों उनके आँगन में नीम के नीचे बैठे थे । तंबूर को अंक में रखकर आत्मा के साथ संधान करते नाथाभाई साधु को मैंने प्रश्न पूछा, “नाथाभाई, यह तंबूर मुझे दोगे ?” विक्षेप पड़ने से उनकी समाधि टूटी । खुली आँखों में रोष प्रगटा । चंद्र क्षणों में वे फिर सौम्य बन गये । दुःख की आर्द्रता के साथ उनके अंतःकरण से उद्गार निसृत होने लगे, ‘पाई, ओणो तबूरो तो मार बा हें !’ उनके भीली बोली के वाक्प्रवाह का विस्तार भय से यहाँ भाषांतर देता हूँ । वाक्प्रवाह आगे चलता है, “भाई, यह तंबूर मेरा-अपना बाप है ! इस तंबूर से मैं और अपने पिताजी भजन गाते थे । मेरा और अपने पिता का हृदय एक होता था । सरस्वती कंठ में आती थी और दोनों के हृदय में भजन आविर्भूत होते थे । राम-सीता, पाँच पांडव, सतिया चंदन, गोपीचंद्र-भरथरी और हरिश्चंद्र राजा – सब चोखे दिखते थे । उनके दर्शन करते थे । आज मेरा – अपना बाप तो नहीं है किंतु बापने दिया तंबूर है । इसको देखता हूँ और मुझे अपने स्वर्गवासी पिता याद आते हैं । भाई, यह तंबूर तो साक्षात् मेरा बाप है । तुझे यह तंबूर नहीं दे सकता !”

मुझे लगा था कि मैंने अनजान में अघटित मंगनी करके साधु की आत्मा का अपराध किया है । साथ साथ वाहक-गायक का मौखिक साहित्य के आलंबन – आधार रूप अपने संगीत के साधनों के साथ और अपनी पूर्व पीढ़ी तथा परंपरा के साथ कैसा आत्मिक संबंध और संधान होता है, इसका पता चला ।

इस परंपरा का संधान संबंधित प्रदेश के देव-देवियों के स्थानों के साथ भी होता है । निज

र्वि लगते ये स्थान लोक के जीवन के मूलाधार होते हैं। इन देवस्थानों के साथ लोक की प्रगाढ़ श्रद्धा सम्मिलित हुई होती है। अतः मनौती जैसे धार्मिक प्रसंगों पर वाहक-गायक के हृदय में से देवी-देवता के महिमा भरे संख्यातीत गीत विविध तर्ज-राग-ढाल-नृत्य के साथ लोक समुदाय के बीच आविर्भूत होते हैं और दुःख में भी लोक को जिने का बल देते हैं।

अनेक वर्षों से विरासत के रूप में संचित धार्मिक एवं सामाजिक परंपरा के साथ जुड़े लोकमानस की प्रकृति निराली होती है और उसके साथ जुड़े वाहक का मिजाज और खुमार भी निराला होता है। उसके पीछे-पीछे एक सप्ताह के पहाड़ी मार्ग के परिणाम शून्य सफर के बाद मेरे एक अरेला गायक ने मुझे टके की सुना दी थी, “वातना तो अमे तणी हैयें। केंवी वोंय तोस केंईए;।” अर्थात् “कथा के तो हम मालिक हैं; कहना न कहना हमारी मरजी! कहें भी और ना भी कहें”। आखिरकार उसकी सेवा-सुश्रुषा के फलस्वरूप एक माह पश्चात् उसके निज-अंतर का पिटारा खुला और मैं निहाल हो गया था।

लोकमहाकाव्यों के चरित्रों के साथ कथावाचक का अनुबंध

मेरी महायात्रा के ये सारे श्याम घन हैं। मैं उनके सांनिध्य में गया हूँ और वे सारे दिल खोलकर बरसे हैं। उनकी लोकवाणी से भीगे मुझे घनश्याम मिले बराबर आनंद हुआ है।

संशोधक-शोधार्थी और मौखिक साहित्य के वाहक-गायक का रिस्ता कैसा होना चाहिए यह बाबत एक गीतकथा की गायिका को इस शोधार्थी ने पूछे प्रश्न के उत्तर से मिलता है : ‘खूतांनो राझवी : देवोल गुझरण’ गीतकथा की समाप्ति के बाद मैंने गायिका को प्रश्न किया था, “आई ! थुं ओणुं गीत हदा नहीं गाती ?” (“माँ ! तू यह गीत हररोज क्यों नहीं गाती ?” हरमांबाई भावसबल बन के बोलने लगी थीं, “हदा गाइए तो गीतांमा आवतां देवतई लोको (कथा के चरित्र) दःखी थाय। ऐणांन (उनको) दःख परें ए आपुही (अपने से) पोण झोयुं नें ज्ञाय एतण आपुं पोण दःखी थाइए-नं होपळवावाळा (श्रोता) पोण दःखी थाय। गाधा पेस (गाने के बाद) बत्तो मोनवीओनो मेळो हउ हउआंन (अपने अपने) केंर ज्ञाय। उं एखली परं एतण मनं देवतई लोकोनी सेत (याद) आवें नं मारी ओखोमाही वरसारो (बारिश) वरहें !” (“हररोज गाने से गीत में आते देवता लोग दुःखी हो जाय ! उनको दुःख पड़ने से अपने से भी देखा न जाये। अतः हम भी दुःखी होंवे। गीत सुननेवाले (श्रोता) भी दुःखी हो जाये। गीत खत्म हो जाने के बाद लोकमेला अपने अपने घर चला जाये। मैं अकेली हो जाऊँ तब मुझे गीत में आये देवता लोगों की याद आए और मेरी आँखों से सावन-भादो बरसने लगे !”)

हरमांबाई के लिए गीत में आते दैवी चरित्र जीवित देवी-देवता हैं। गीत गाने से वे मूर्तरूप धारण करते हैं। और उनके जीवन में घटित करुण घटनाओं से वे दुःखी होते हैं। वे दुःखी होते हैं अतः गायिका भी दुःखी होती है। सुनने वाले श्रोता भी दुःखी होते हैं।

इसके बाद हरमां आई ज्यादा भावसबल बनके मुक्त मन से बोलने लगी थी, “मार पोस सैया हैं। पोण ओणा बत्ता पापीला हैं। मार पापमाही पेंदा था हैं। एक थुं हें जो मार धरमनो दीकरो हें

न मार मन सतनो सैयो हैं । खेर (खेडब्रह्मा गाँव) हो आवें न आई ! आई ! करतो मार कने बेहे । थुं आवें एतण बैइरो (पवन) वाझें वरसारामा (बारिश में) लीलुं खोर (घास) खल्लाटा मारे एम मारो हरदो (हृदय) पोण खूस्सीहो खल्लाटा मारे ! थें कउं एतण में परु गीत गायुं (गाया) । नकर परु गीत गातीस नहीं ने !” (“मेरे पाँच पुत्र हैं, किन्तु सब पापी हैं ! मेरे पाप से पैदा हुए हैं । एक तू है, जो मेरा धर्म का पुत्र है और मेरे मन सत्य का पुत्र है । खेडब्रह्मा गाँव से आता है और माँ ! माँ ! बोलता हुआ मेरे पास बैठता है । तू आता है तब पवन बहता है और बारिश में घास डोलने लगती है वैसे मेरा हृदय खुशी से डोलने लगता है । तूने कहा अतः मैंने पूरा गीत गाया । नहीं तो मैं पूरा गीत गाती ही नहीं !

मौखिक साहित्य की वाहक-गायिका के साथ के यह अनन्य रिस्ते के पर्व-प्रसंग के समय मुझे अपनी धर्म की महामना माँ के दर्शन हुए थे और मैं अकथ्य आनंद से भावविभोर बन गया था ।

अनेक युगों का इतिहास सँजोकर बैठी हुई और संगीत के विविध रूप धारण करके शत्-शत् धाराओं में बहती इस ‘कंठवेद’ के समान लोकगंगा के लोकानुरूप अनेकविध स्वरूप पाए जाते हैं । साथी-प्रमी विषयक प्रणयगीत, लोकमंत्रों के संदर्भ से उद्भूत पूर्वकालीन कथाएँ (मिथ), अरेला, भजन-वारता, हग तथा वर्तामणानां गीतां, भीली रामकथा-पांडवकथा का दीर्घ भजनरूप, लोकमहाकाव्य तथा लोकाख्यान जैसे लोक स्वरूप पहली बार ही भारतीय मौखिक साहित्य के क्षेत्र में प्रविष्ट हुए हैं ।

देश और दुनिया को दिखा सकें ऐसे ‘राठोर-वारता’, ‘गुजरांनो अरेलो’, ‘तोळीरोणीनी वारता’, ‘रोमसीतमानी वारता’ और ‘भीलोनुं भारथ’ का हिन्दीभाषी प्रदेश के ‘लोरिकी-चैनानी’, राजस्थान के ‘पाबूजी’, ‘बगड़ावत देवनारायण’, ‘तेलुगु का ‘पन्नाडु तथा तमिल के ‘अण्णन्मार’ जैसे आंतरभारतीय लोकमहाकाव्यों के साथ तुलनात्मक अध्ययन हो सकता है । इसकी पहल के रूप में डॉ. जिज्ञासा पटेल ने ‘गुजरांनो अरेलो और बगड़ावत देवनारायण का तुलनात्मक अध्ययन’ नाम से हिन्दी में शोध-निबंध लिखा; फलस्वरूप गुजरात के लोकमहाकाव्यों के लक्षणों को तारांकित करना सुलभ हुआ है ।

भील आदिवासी लोकमहाकाव्यों और लोकाख्यानों का डॉ.मृदुला पारीक के हिन्दी अनुवादों एवं डॉ. नीवा शाह के अंग्रेजी अनुवादों से भीली मौखिक परंपरा राष्ट्रीय एवं आंतरराष्ट्रीय क्षेत्र में अध्ययन का विषय बना है ।

भील आदिवासियों का वाचिक साहित्य; समकालीन वैयक्तिक साहित्य की तरह जीवन से भिन्न नहीं है । किंतु सांप्रत जीवन का अभिन्न अंग है । उनके मौखिक साहित्य का समतावादी – सहभागी जीवनदर्शन उनकी वर्तमान जीवनरीति में भी व्याप्त है । पूर्णकालीन आदिवासी समाज आदि स्त्री-पुरुष पूर्वज के वंश से विकसित होकर कुटुंब-कुल-गोत्र के रूप में विकेन्द्रित गाँवों में फैलाता है । यह सरल समाज कुल या गोत्र के सगे-संबंधियों से बनाता है । अतः जंगल, जमीन और जल के स्रोतों का अधिकार वैयक्तिक न होकर स्त्री-पुरुष से बने पूरे समाज का होता है ।

पूर्वजप्रेम, पूर्वजपूजा और पूर्वज की ओर सम्मान की भावना होने से पूर्वजों की धरती की फसल और धरती बेच नहीं सकते। किन्तु पूर्वज और गोत्रदेवी-देवता की पूजा करके भेंट चढ़ाने के बाद फसल का समूह में उपयोग-उपभोग हो सकता है। पूर्वजों ने धरोहर में दी धरती से प्राप्त चीज-वस्तुओं का विनिमय होता है, किन्तु बेची नहीं जाती।

आदिवासी समाज सहकार और सहभागिता की नींव से आविर्भूत होने से समाज की प्रत्येक जीवनरिति और क्रिया-कलापों में सहभागिता और सहयोग के दर्शन होते हैं। इस समाज में जन्म से लेकर मृत्यु तक की प्रत्येक सामाजिक और धार्मिक प्रवृत्तियाँ सहयोग से की जाती हैं।

यह सजातीय गोत्रवाला लोकसमुदाय सामाजिक-धार्मिक पर्व-प्रसंग, धार्मिक अनुष्ठान और सामाजिक विधि-विधान, देव-देवीपूजा, पूर्वजपूजा और वृक्षपूजा सामूहिक रूप से सहभागी होकर करता है। पर्व-प्रसंगों के साथ जुड़े गीत-नृत्य समूह में गाता है और करता है। आदिवासी जीवन की प्रत्येक सामाजिक-धार्मिक प्रवृत्तियों और क्रियाकलापों में आबाल-वृद्ध स्त्री-पुरुषों का सहयोग और साझेदारी अभिन्न होती है।

आदिवासी लोकजीवन में सामाजिक-आर्थिक ऊँच-नीच के स्तर नहीं होते। यह समानता और समतावादी समाज है। भील आदिवासी समकालीन समाज पितृसत्ताक, पितृवंशी और पितृस्थानीय होते हुए भी स्त्री का स्थान ऊँचा है। पुत्रीजन्म के अवसर पर पुत्र-जन्म समान ही खुशी व्यक्त करने के लिए झालर और ढोल बजाकर नृत्य किया जाता है और परिवार में गुड़ बाँटा जाता है। भील परिवार में लिंग भेद बिना ही कन्या का लालन-पालन किया जाता है। पितृगृह से प्राप्त भेंट पर स्त्री का अधिकार होता है।

भील आदिवासी समाज में बहुपत्नीत्व की प्रथा अस्तित्व में होने से पत्नियों के मुताबिक जमीन-जायदाद बाँटी जाती है। सामाजिक सम्मान की दृष्टि से पति के लिए पत्नी कीर्ति है, आबरू है।

संबंध विच्छेद के बाद भी स्त्री बच्चों की देख-भाल करने के लिए पुराने पति के घर भी आती-जाती रहती है। नया पति उसका विरोध नहीं करता।

भील आदिवासी समाज में स्त्री के विधवा हो जाने के बाद अपने मूल पति के घर ही दूसरा पति ला सकती है और पूर्व पति की संपत्ति की स्वयं स्वामिनी बन सकती है। भील समाज में यह जीवनरिति 'घजमाई' के नाम से पहचानी जाती है, जो पूर्वकालीन मातृसत्ताक समाज की गवाही देती है। इस जीवनरिति में नये पति को शारीरिक संबंध स्थापित करने और नये बच्चों का पालन-पोषण करने के अलावा पति का कोई विशेष अधिकार प्राप्त नहीं होता।

भीलों में तरुणावस्था में गोठिया-गोठण (प्रेमी-प्रेमिका) करने की समाज स्वीकृत जीवनरिति है। स्त्री यहाँ भोग-विलास के लिए पूर्ण मुक्त होती है।

माता की मृत्यु के बाद उसके अस्थि (फूल) एक छोटे कुंभ में रखकर हितदेवी की घर में स्थापना करते हैं। जो परिवार की हितरक्षक मातृदेवी होती है।

भीलों में प्रचलित महामार्गी पाट (धूलानो पाट) के धार्मिक अनुष्ठान के समय स्त्री गुरु के स्थान पर होती है और उनका आदेश धार्मिक सभा (गतगंगा) को स्वीकार्य होता है।

भील समाज में सांप्रत में प्रचलित ऐसी सामाजिक-धार्मिक बाबतें उनकी पूर्वकालीन मातृसत्ताक समाजव्यवस्था और जीवनरिति को प्रगट करती हैं और ऐसी मातृसत्ताक जीवनरितियों का प्रभाव उनके महामार्गी धार्मिक जीवनदर्शन, धार्मिक अनुष्ठान और विधि-विधान तथा 'भारथ', 'रोम-सीतमा', 'तोळीरोणी' जैसे महाकाव्यों की रचना-रितियों के निर्माण में भी पड़ा है। वस्तुतः तो ये मातृसत्ताक जीवन रितियों ही ऐसे महाकाव्यों के विधायक परिबल या सृजनस्रोत हैं।

भील लोकमहाकाव्यों का स्वरूप

बाह्य स्वरूप

संस्कृति-समाज के साथ लोकमहाकाव्यों का आंतरिक संबंध

लोकसंस्कृति

'लोक' का जीवन और जगत को देखने-समझने-परखने और अभिव्यक्त करने का परंपरा आधारित दृष्टिकोण को लोकविद्याविद् लोकसंस्कृति कहते हैं। लोकसंस्कृति लोकविद्या (फोकलोर) के द्वारा प्रकट होती है। लोकविद्या की एक प्रशाखा लोकसाहित्य है और लोकसाहित्य के एक प्रकार के रूप में लोकमहाकाव्य का अध्ययन किया जाता है।

दीर्घ महाकाव्य किसी भी जाति के 'लोक' के जीवनदर्शन-धर्मदर्शन में से रूप धारण करता है। अतः इसे 'लोकमहाकाव्य' कहते हैं। लोकमहाकाव्य मौखिक रूप में अभिव्यक्त होता है इस लिए पश्चिम के इस विद्याशाखा के विद्वान उसको 'मौखिक महाकाव्य' भी कहते हैं। ऐसी दीर्घ संगीत प्रधान पद्य-गद्य के सायुज्यवाली कथा के लिए हिंदी एवं राजस्थानी लोकसाहित्य में 'लोकगाथा' या 'महागाथा' शब्द प्रयुक्त हुए हैं।

भारतीय 'लोक' तो विराट है। अलग अलग क्षेत्रों में उसके अनेक निराले रूप हैं। उसके स्वरूपों को वर्गीकृत करते समय उसे 'बेलेड', 'मिथ', 'फोकलिरिक', फोकएपिक जैसे विदेशी साहित्य के बने बनाये तैयार ढाँचे में ढाल देते हैं। ऐसा न करके प्रदेश विशेष के पारम्परिक प्रचलित नामाभिधानों को ध्यान में रखकर वर्गीकरण करना चाहिए। उदाहरण के तौर पर भील आदिवासी समाज में ऋतुचक्र के अनुसार गान एवं कथन शैली के लोकस्वरूप 'वतांमणां गीतां', 'हगनां गीतां' 'होळीनां गीतां' तथा संगीतप्रधान गेय स्वरूप के लिए 'अरेला', 'भझनवारता', 'वारता' आदि नाम प्रचलित हैं। वर्गीकरण करते समय इन नामों को यथावत् रखना चाहिए और उनको स्पष्ट करने के लिए विदेशी नामों का उपयोग करना चाहिए।

लोकमहाकाव्य का वाहक-गायक

लोकसाहित्य या लोकमहाकाव्य का वाहक होता है, उसका वैयक्तिक सर्जक नहीं होता; और अगर होता भी है तो वह 'व्यक्ति' न रह करके 'समाज' बनकर रह जाता है। वह सम्बंधित समाज की सामाजिक तथा धार्मिक परंपरा को मानस में लेकर जीता है। मौखिक परंपरा में से

प्राप्त करके, मानस में वहन करके, लोकसमुदाय के बीच जो व्यक्ति गाता है उसे भील समाज में 'साध' (साधु) या भोपा (ओझा) कहते हैं। ऋतुचक्र के साथ जुड़े हुए उचित सामाजिक-धार्मिक प्रसंग पर लोकसमूह के बीच उसके मानस में स्थित परंपरा में से निसृत होकर कंठस्थ साहित्य कलामय रूप धारण करता है। धर्माश्रयी लोकमहाकाव्यों-लोकाख्यानों के चरित्रों के साथ गायक-वाहक की प्रगाढ़ धार्मिक आस्था जुड़ी होती है। अतः उनके साथ उसका नाता जीवनपर्यंत रहता है। उसके लिए ऐसे दैवी चरित्र सजीव मानव जैसे होते हैं। वाहक धार्मिक चरित्रों के दुःख से दुःखी और सुख से सुखी होता है। अतः वाहक भजनवारता सभा के मनोरंजन करने के लिए या कथारस को पोषने के लिए नहीं गाता। अपितु, समाज के खास प्रकार के धार्मिक-सामाजिक प्रयोजन के लिए गाता है।

आगे सूचित किया गया है कि भील समाज में रोम-सीतमानी वारता ऋतुचक्र के अनुसार आते दो पर्व-प्रसंगों पर प्रस्तुत होती है। एक, भादों महीने में धूला के पाट के समय गाई और लयात्मक गद्य में कही जाती है। दूसरे, माघ महीने में सिर्फ गाई जाती है। यहाँ ये दो धार्मिक उत्सव और वाहक की गान एवं कथन पद्धति का परिचय दिया गया है।

धूला का पाट और वाहक साधु की गान एवं कथन पद्धति

भादों में डुंगरी भील आदिवासी धूला का पाट (धूळानो पाट) भरते हैं। शनिवार की रात को भरे जानेवाले इस पाट को 'बीज ऊजववी' (दूज मनाना) भी कहा जाता है। धार्मिक अनुष्ठान होने के कारण 'गत' (सभा) में शराब पीने और मांस खाने पर सख्त पाबंदी होती है। रजस्वला स्त्रियों का प्रवेश भी वर्जित होता है।

'खूंट' (चार कोनों में बैठने वाले साधु) के रूप में जिन साधुओं की नियुक्ति की जाती है वे धूला के पाट की समस्त धार्मिक क्रियाओं का संचालन करते हैं। मध्य रात्रि के पश्चात् उनके द्वारा 'मंडल'की रचना की जाती है। इसके लिए हल के फल (हल की फाल) के स्पर्श से रहित कुँआरी मिट्टी और कुँआरी गाय के गोबर को मसलकर गद्दी बनाई जाती है। इस गद्दी पर तीर (इस क्रिया में तीर को नर माना जाता है।) से चतुष्कोण बनाया जाता है। फिर इस गद्दी पर सवा-सवा हाथ का सफेद और लाल कपड़ा बिछाकर साँवाँ के दानों से चन्द्र, सूरज, चौरासी साधु, पाँच पांडव, पाड़ोर गाय, वासुकी नाग जैसे धार्मिक प्रतीकों की आकृतियाँ; सितरी ज्योत (शीतल ज्योति), भंडारी द्वारा भरे जा रहे चूरमे के कुंडे एवं गुरु-चेला बनाने की क्रिया तथा मंत्रोच्चार के साथ चढ़ाए जाते नारियलों से एक विशेष प्रकार का धार्मिक वातावरण निर्मित होता है। इस विशिष्ट प्रकार के वातावरण से प्रेरित एकत्रित लोकसमुदाय मुख्य साधु से प्रवर्तमान प्रसंग का माहात्म्य प्रकट करनेवाली भजनवारता (भजनकथा) सुनने को आतुर हो जाता है। लोकसमुदाय की धार्मिक मनःस्थिति को परखकर भजन में साथ देनेवाले 'बाणिया' (गायक) और 'हुंकारिया' (हुंकारा भरनेवाले) साधु के आसपास बैठ जाते हैं, तब साधु स्थानक के पास जाकर तंबूर को नमन करके उसे मनाने का मंत्र बोलता है। उसके बाद तंबूर को स्थानक से उठाने

का मंत्र बोलता है। प्रसंग संपन्न होने के बाद तंबूर को पुनः प्रस्थापित करते समय नारियल चढ़ाता है। मंडली के बीच आसन ग्रहण करके साधु तंबूर को अंक में लेकर स्वर का संधान करता है। ये स्वर ही चित्त के साथ ओतप्रोत होकर साधु, रागिये और श्रोताजनों को महाकाव्य में आते दैवी चरित्रों का साक्षात्कार करवाते हैं। अतः भील समाज में तंबूर का स्थान सजीव प्रत्यक्ष देव जैसा ही है।

साधु आरंभ में शारदा की प्रार्थना करता है :

मूक पङ्गननी लेर, सारदामा, मां झाझे...

तुं मार मडलीमा रमणा आव,

सारदमा, मां झाझे....

तुं मार बोणियांन एवरे आव,

मां झाझे...

थार नोमनो मेळो भरांणो,

सारदमा मां झाझे...

(पाताल में सोई हे शारदामाता, तू जाग और साधु के मेले में खेलने आ ! मुझे भजन में साथ देनेवाले मेरे रागिये के कंठ के ताले खोल और मेरे हृदय में भजन की लहर जगा।)

शारदा-सरस्वती के बाद गणपति की प्रार्थना करता गाता है :

होम नं करुं, अगरबती,

मन मंदेरमा रमता पतारो गणपति....

(हे गणपति, मैं होम और अगरबती करता हूँ ! आप मेरे मनमंदिर में खेलते हुए पधारो !)

जब तंबूरे में से भजन के योग्य सूर निकलने लगते हैं तब वह भजन गाना शुरू करता है। इस समय एकत्रित लोकसमूह पूरी श्रद्धा के साथ भजन में आनेवाली कथा (वारता) को सुनने और गाने के लिए आतुर हो उठता है।

इस प्रकार बीज के एक विशिष्ट प्रकार के वातावरण से वशीभूत लोकसमुदाय के मध्य साधु पारम्परित रूप से अपने मानस में स्थित 'धरणी अने मनखा अवतारनी वारता', 'रौम-सीतमा' या 'धांदलराझा' जैसी भक्तिरस से भरी हुई दीर्घ कथा की पँखुड़ियों को गायकों के सहयोग में एवं मंजीरों की संगत से, तंबूरे के सूरों में साधकर गाने-कहने लगता है :

सेलां सेलां धावणियां रे पोण दीकरा...

सेलां सेलां धावणियां रे पोण...

ए... दीकरा, सेलां रे सेलां धावणियां धावझो रा... झी...

बूसका देवें न रे पोण रौणी,

बूसका देवें न रे पोण...

दीकरा खाझो रे पीझो न माय्या मोडझो रा...झी...

माय्यर दीकरांनी रे पोण दीकरा,
माय्यर दीकरांनी रे पोण...
माय्यर दीकरांनी जोरियो टूटियो रा... झी...
मेंलांमा भूड़को ओइयो रे पोण रोणी,
मेंलांमा भूड़को ओइयो रे पोण...
मेंल रे तोरीन परिया झावा लागियां रा... झी...

‘(मेरे बेटों, अंतिम बार का दूध पी लो !’ पुत्रों को चुमकारती हुई रानी कहती है कि ‘मेरे बेटों, खाना, पीना और राज करना । माँ-बेटों का जोड़ा तो टूट गया है !’ विस्फोट हुआ और महल तोड़कर रानी उड़ने लगी ।)

कथा के घटना-प्रसंग जैसे-जैसे आगे बढ़ते हैं, वैसे-वैसे गायक, हुंकारा भरने वाले और श्रोता-दर्शक कथारस में डूबते चले जाते हैं। वे ‘ए...वैरागी’, ‘ए... अरि’, ‘खमा मालकांन...!’ जैसे वाक्यांशों द्वारा साधु का उत्साहवर्धन करते हैं। परिणामस्वरूप साधु और भी अधिक कथा के प्रसंग कहने के लिए उत्साहित हो जाता है और प्रत्युत्तर में भजन के बीच-बीच में ‘हा... झीवता पलाई... (जीवित भलाई)!’ जैसे वाक्यांशों को बोलकर श्रोता एवं गायकों के कथनों से गौरवान्वित होता है। बीच-बीच में साधु को धार्मिक महत्त्व देने के लिए श्रोताओं द्वारा किया गया शंखघोष और बजाए गए झांझ तथा चिमटों से उत्पन्न विशिष्ट संगीत से साधु में कथा गाने का ‘तेझ’ (ओज) चढ़ता है। परिणाम स्वरूप वह तंबूरे के स्वरों के साथ और अधिक तद्रूप होता चला जाता है और शारदा उसमें अधिक-से-अधिक उतरने लगती है। फलतः कथा-प्रसंगों को संगीतमय स्वरों में प्रस्तुत करके वह श्रोता एवं गायकों को और अधिक कथारस में डुबोता हुआ रसमग्न कर देता है। कथा में आनेवाले पात्र वास्तव में अतीत में या सतयुग में हो गए हैं, अतः उन पर अटूट श्रद्धा रखनेवाले श्रोता भी पूरी धार्मिक आस्था से पात्रों के साथ तादात्म्य स्थापित कर कथा को गाते हैं या फिर सुनते हैं।

कतिपय भजन-कथाएँ महाकाव्य-सी दीर्घ होती हैं। इसलिए गायकों को गाने में यदि थकान लगने लगती है या श्रोताओं को एकरसता का अनुभव होने लगता है, तो मुख्य साधु सभा को सम्बोधित करके भजन के अंत में ‘झीवता’ शब्द बोलकर भजन का प्रसंग वहीं रोककर कथा कहने लगता है। साधु जिस प्रसंग को भजन रूप में गा रहा है, उसे या फिर आनेवाले घटना-प्रसंग को लयात्मक गद्य में कहता है। कभी-कभी भजन में स्पष्ट न होनेवाले प्रसंग या घटना के अंशों को साधु कथा में विस्तार देता है। इस प्रकार साधु लयात्मक गद्य में कथा आरम्भ करता है और अन्तिम चरण पर आते ही प्रमुख गायक-साधु की अन्तिम पंक्ति को दोहराकर या कभी-कभार प्रसंग के अनुरूप लयबद्ध स्वर में कोई अलग ही पंक्ति बोलकर हुंकारची हुंकारा देता है। यह हुंकारा कभी प्रसंग के अनुरूप होता है तो कभी आगे आनेवाले प्रसंग का सूचक होता है।

कथा प्रारम्भ करने के पहले साधु ‘नेखला’ (लोहे के तार की अँगूठी) की मदद से द्रुत गति

में तंबूरे के तार झनझनाता है और कथा आरम्भ करता है। कथा-कथन के मध्य थोड़े-थोड़े अंतराल से तंबूरा बजाता रहता है। बीच-बीच में तंबूरा बजाने की इस रीति के कारण कथा कहता-कहता साधु कुछ विराम पा लेता है। कभी-कभार कोई प्रसंग भूल गया हो तो इस तरह से उसे याद कर लेता है। तंबूरा बजाकर वह अपनी स्मृति को सतेज करता हुआ भूल सुधार लेता है। इस शैली के कारण कथा-कथन की एकरूपता भी टूटती है। मुख्य साधु कथा के आरम्भ में 'हा...रे...', 'हा... ने', 'हा... रे महाराज्ञ...' जैसे वाक्यांशों को बोलता है और वाक्य के अंत को प्रलम्बित करता है। इसके कारण कथा की प्रस्तुति में एक विशिष्ट प्रकार की आंतरलय प्रवेश करके कथा की कथन-शैली में माधुर्य भर देती है।

कथा के प्रारम्भ में साधु एकत्रित जनसमुदाय के सामाजिक गौरव का गान करता है। साधु जैसे ही एक पंक्ति को प्रलम्बित स्वर में बोलता है कि हुंकारची तुरंत उसके अंतिम चरण को पकड़कर प्रलम्बित स्वर में ही हुंकारा भरने लगता है :

साधु: हा... रे एकादनेरी वारता बो... ले।

होंकारियो : बोल्ले...

साधु : हा... ने भरी सपा होंपळे...

होंकारियो : होंपळे 'ला...

साधु : खमा ! खमा (तंबूरे का स्वर) तो महाराज्ञ... !

होंकारियो : हा... रे महाराज्ञ !

साधु : हा रे... महाराज्ञ रे... सतञ्जुगनी वारता...

होंकारियो : वारता ...

साधु : हा... ने कळञ्जुगनां मौनवी...

होंकारियो : मौनवी...

साधु : सतियांनी वारता वोसिये...

होंकारियो : वोसिये...

साधु : हा... ने भरी सपा होंपळे...

होंकारियो : होंपळे 'ला...

(एक दिन की कथा कही जा रही है और भरी सभा सुन रही है। हम सतयुग की कथा पढ़ रहे हैं और कलयुग के मनुष्य सुन रहे हैं।)

इस प्रकार साधु एकत्रित जनसमूह को ध्यान में रखकर उस दिव्यकाल-सतयुग और उसके चरित्रों का उल्लेख करता है, जिस पर समस्त प्रदेश-विशेष की परम आस्था है। फलतः अपने मन में पहले से ही उन दिव्य चरित्रों के प्रति पूज्यभाव रखनेवाला श्रोता उनके साथ प्रगाढ़ता से तादात्म्य स्थापित कर लेता है।

साधु जानता है कि कथा तो उसके चित्त में परम्परा से ही पड़ी हुई है, किंतु हुंकारची के

सहयोग के अभाव में उसे योग्य स्वरूप देकर बाहर लाना कठिन है। इसलिए वह हुंकारची को सामाजिक गौरव प्रदान करता हुआ उसके उत्साहवर्धन की बातें करता है :

साध : फोजमा नगारसी नं वातमा उकारसी !

उकारसी : उकारसी 'ला, उकारसी !

साध : तुंकारे वात खारी नं उकारे वात पेयारी ।

उकारसी : पेयारी ।

साध : गोळ रोटो, सूल्लो की, देय उकारसीन, खाई, पीन, तगरो
थई दिये उकारो ।

होंकारियो : सबा 'ला, सबा !

साध : पोस रोटा, पाहेर की, खाईन पेस दे मारो उकारो !

होंकारियो : उकारो !

(फौज में नगारची और कथा में हुंकारची का बड़ा ही महत्त्व होता है। तुंकारे की (तुच्छता से कही) बात खारी और हुंकारे की प्यारी लगती है। मैं हुंकारची को गुड़, रोटी और घी दूँगा। वह खा-पीकर मोटा-ताजा होकर हुंकारा भरेगा। हुंकारची, तू पाँच रोटी, पाव-भर घी खाने के बाद हुंकारा देना!)

भजन और कथा में साधु को 'सुरता(लौ)' लगानेवाले सहायक गायक और हुंकारची ही होते हैं। अतः वह उन्हें कभी नहीं भूलता है। लम्बी कथा के एक प्रसंग की समाप्ति पर साधु कहता है :

सात (साधु) : होरो रे हुंकारांना देना... र !

होंकारियो : देना... र !

सात : करोर दिवाळी करे राझ... !

होंकारियो : करे राझ.... !

सात : झुग झायन वारता हा... ले !

होंकारियो : हलावो... !

सात : खमा !

(हुंकारा देनेवाले तू, कुशलपूर्वक रहना और करोड़ दिवाली तक राज करना ! युग तो बीत जाते हैं पर कथा (हर युग की) आगे बढ़ती है।)

प्रसंग की समाप्ति के बाद भी यदि श्रोता कथा सुनने में रुचि रखते हैं तो साधु 'खमा (खम्मा) !' कहकर कथा को आगे बढ़ाने के लिए द्रुत गति से तंबूरे के तार झनझनाता है। और आगे की कथा कहने लगता है। यदि कथा सुनने में श्रोताओं की रुचि कम होने लगती है तो साधु फिर से भजन गाने लगता है।

बीज जैसे धार्मिक अनुष्ठान के समय लोकसमुदाय का ध्यान रखकर साधु उन्हीं भजन-कथाओं को विशेष रूप से पसंद करता है जो नृत्य, संगीत, स्वाँग और धार्मिक वातावरण से सभर किसी

प्रसंग से जुड़ी हुई होती हैं। अतः देर रात में दर्शक या श्रोता जब एकरसता या ऊब का अनुभव करने लगते हैं, तो साधु ऐसे प्रसंग को तंबूरे के साथ गाने लगता है जिसमें नृत्य गूँथा हुआ हो। परिणाम स्वरूप नृत्य करने के लिए आतुर आबालवृद्ध स्त्री-पुरुष अति उत्साह के साथ खड़े होकर सोल्लास नाचने लगते हैं। दिवाली के दिनों में गाए जाते 'अरेला' में स्त्री-पुरुष गाते-गाते नाचते हैं, जब कि भजन-कथा में वे देह को नए-नए मोड़ देकर केवल नृत्य ही करते हैं। इन भजन-वारताओं के नृत्यों में देह की लयात्मकता, बड़ी ही सशक्त होती है। नृत्य के उल्लास में नाचनेवालों की देह घायल साँप की भाँति नए-नए बल खाती रहती है। कई बार कथक साधु को भी नाचने का जोश चढ़ जाता है और वह तंबूरे के साथ खड़ा होकर अति उल्लास में नाचने लगता है। साधु के नृत्योत्साह को देखकर कभी-कभी लोकसमूह भी नाचने लगता है, उस समय एक अभूतपूर्व सांस्कृतिक दृश्य की निर्मिति होती है।

बीज के उत्सव में पूरी रात अनुष्ठान की क्रियाएँ और भजन चलते रहते हैं। इसलिए लोकसमुदाय की थकान और ऊब को दूर करने के लिए 'वणजारो-वणजारी (बनजारा-बनजारिन)' और 'वनरा (वानर)' के स्वाँग भरे जाते हैं। अंत में विदा लेते समय एकत्रित समुदाय इन स्वाँगों के साथ अति उत्साह एवं उल्लास के साथ नाचता है। और फिर चूरमा खाकर बिखर जाता है।

कोबरिया पाट और वाहक ओझा की गान पद्धति

माघ के महीने में डुंगरी भील 'कोबरिया ठाकुरनी कोळी' मनाते हैं। यह उनका मैला धार्मिक अनुष्ठान है। चोरी का माल वापस लाने के लिए कोबरिया ठाकुर को जगाया जाता है। अपराधियों को कोबरिया ठाकुर लग जाता है, और उनके मवेशियों तथा नाते-रिश्ते-दारों को मारकर महा हानि पहुँचाता है। ओझा अभुआकर कहता है कि यह दुःख कोबरिया ठाकुरने दिया है। उनकी घर में स्थापना करने से यह मिट जाएगा। अतः माघ के महीने में कोबरिया ठाकुर की 'कोळी' मनाकर ठाकुर को घर में स्थापित किया जाता है। और भूतकाल में यदि कोई चोरी या अपराध किया हो तो उसका स्वीकार करके माल वापस लौटा दिया जाता है।

माघ में ओझा द्वारा सुझाए गए दिन को कोबरिया ठाकुर की कोळी मनाई जाती है। आधी रात में कोबरिया ठाकुर की मूर्तियों को स्थापित करने के लिए गद्दी बनाकर मंडल की रचना की जाती है। कुँआरी गाय का गोबर और कुँआरी मिट्टी को मिलाकर घर का एक कोना लीपा जाता है। इस जगह को कोबरिया ठाकुर की गद्दी कहा जाता है। गद्दी पर किनखाब का लाल कपड़ा बिछाकर चावल के दानों से बीज (धूला का पाट) के अनुष्ठान की तरह मंडल की रचना की जाती है। शंखघोष शुरू होते ही ओझा अनुआने लगता है। ढोल, सारंगी, बाँसुरी, और मंजीरे के स्वर तेज होने लगते हैं। इन विशिष्ट प्रकार के स्वरों के साथ ओझा नृत्य के ठेके के साथ भजन-कथा गाने लगता है और आबाल-वृद्ध नाचते हुए उसे झेलने लगते हैं। ओझा 'धरणी अने मनखा अवतार' 'देव-देवियाँ तथा कोबरिया ठाकुर की उत्पत्ति' और उनके प्रभाव के महिमा का गान करने के लिए भजन-कथाओं के प्रसंगों को गाने लगता है:

ओतो झळुकार रे... मारी मों झोरे... ओहो...

ओतो तदुकार रे... मारी मों झोरे... ओहो...

खोमद केखा वेंसियो... मारी मों... झोरे...ओहो...

वेंसियो हातमे पेयाळ... मारी मों... झोरे...ओहो...

(जल-प्रलय था । मेरी माता, जल में भगवान सातवें पाताल बसते थे ।)

कोबरिया ठाकुर को अहुरी (चावल) की खीचड़ी चढ़ाने के बाद बलि की भजनकथाएँ गाई जाती हैं । इस अवसर पर शोर-शराबे, चीख-पुकार के बीच नृत्य की गति तीव्र हो जाती है और लोगों के मन आदिम आनंद से नाच उठते हैं । सिंदूर का तिलक लगाकर भैंसे को पाट के समक्ष लाया जाता है कि तभी ओझा के शरीर में कोबरिया ठाकुर आता है । वह भैंसे की आवाज में अभुआने लगता है और इस प्रकार भजन कथाएँ कोबरिया ठाकुर की 'स्तुति' का रूप धारण कर लेती हैं :

कोबरियो हैं देव,

सटकती नळीओना सला लेवणावाळो ।

रोम झो... हो... (२)

आंतरिक स्वरूप

सृष्टिसर्जन की पुराकथा (मिथक)

भीलों में प्रचलित पूर्वकालीन पुराकथा (मिथक) सृष्टि की उत्पत्ति-कथा - 'धरणी नं मनखा अवतारनी वारता' ऋतुचक्र के अनुसार आते पर्व-प्रसंगों पर मौखिक महाकाव्यों के आरंभ में मंत्ररूप में गाई एवं कही जाती है। विविध लोकमहाकाव्यों की तरह यह वारता (कथा) उनके धार्मिक-सामाजिक जीवन की आस्था का प्रमुख परिबल है। भील-समाज की वर्तमान जीवनरिति में इस कथा का प्रभाव प्रगाढ़ है। इसके अतिरिक्त उनके प्राचीन रीति-रिवाजों के मूल इस कथा में देख सकते हैं; जिसके निशान निषाद संस्कृति तक जाने की संभावना है।

ऋग्वेद, अथर्ववेद, शतपथ ब्राह्मण, बृहदारण्यक, ऐतिरीय उपनिषद, मत्स्यपुराण आदि भारतीय लिखित साहित्य में सृष्टिरचना और जल-प्रलय की पुराकथाएँ प्राप्त होती हैं। ये पूर्वकालीन कथाएँ निषाद-भील जैसी आर्येतर सभ्यता से वेदों में प्रविष्ट होने की संभावना है। भीलों के वाचिक साहित्य में प्रकाशित सोने के अंडे में से पादुर्भूत भगवान एवं उमियाने सृष्टि और देव-देवी तथा मानवसृष्टि का सर्जन किया - यह पुराकथा प्रमुख है। ऋतुचक्र के अनुसार आते पर्व-प्रसंगों पर गाई और कही जाती सृष्टि की उत्पत्ति की यह कथा उनकी श्रद्धा के प्राण समान है और संगीत के विविध राग-रागिनियों के साथ नृत्य के अनेक रूप धारण करती है।

स्टिथ थोम्प्सन के मोटीफ इन्डेक्सने स्पष्ट किया है कि सृष्टि रचना, प्रलय तथा पुनःसृजन की पुराकथाएँ विश्व की सभी जातियों में पाई जाती हैं। इस वर्ग की कथाओं में साम्य होने का प्रमुख कारण पूर्वकालीन जातियों के महाविनाशकारी प्रलय के दर्शन एवं आदिम मानवीय अनुभव है

। जो कथाएँ विविध जाति-प्रजातियों की मौखिक परंपरा में हैं वे ही कथाएँ उनके बाद में रचित महाकाव्यों और धर्मग्रंथों में ली गई हैं। अतः सृष्टिरचना और प्रलय की कथाएँ भारतीय पुराणों के अलावा भी हिब्रू (यहूदी साहित्य), बेबिलोनिया, सुमेर, ग्रीक, दक्षिण अमरिका, अफ्रिका, आस्ट्रेलिया आदि लोकसाहित्य और लिखित साहित्य में प्रचलित हैं।

लोकमहाकाव्यों का जीवनबोध-युगबोध

रोम-सीतमानी वारता, भारथ, राठोरवारता और गुजरांनो अरेलो जैसे महाकाव्य एक-दो व्यक्तियों की कथाएँ नहीं हैं किन्तु एकाधिक पीढ़ियों की कथाएँ हैं। रघु, कुरु, राठोड़ और गुर्जर कुल के पूरे वंश की कथाएँ हैं। दो-चार पीढ़ियों की कथा-वारता के ऐसे स्वरूप में घटना-प्रसंग की अनेक पंखुड़ियाँ होती हैं जो कथक के गेय कथन द्वारा भिन्न भिन्न चरित्रों का विकास करती हुई अनुष्ठानों के सांनिध्य में धार्मिक आस्था से प्रभावित श्रोता-दर्शकों को रसानंद कराती हुई विकसित होती हैं। प्राचीन एवं साम्प्रत समाज के रीति-रिवाजों, विधिविधानों, धार्मिक आस्थाओं तथा सामाजिक मान्यताओं को प्रस्तुत करके खास जाति के वर्तमान लोकजीवन को अभिचालित करती हैं। ये कथाएँ एक पूरी जाति के पूर्वकाल से लेकर वर्तमान समाज को साथ लेकर चलती हैं। इन कथाओं का हेतु कोई एक वंश और उसके साथ उनके पूरे युग एवं प्रजा का किस तरह उत्कर्ष-विकास हुआ; चरमोत्कर्ष पर पहुँचे और उनका विनाश किस तरह हुआ; उसे दर्शाने का होता है। 'भारथ' में पांडवों के उत्कर्ष का कारण द्रौपदी-कुंती जैसी व्यवहार और प्रशासन कुशल नारियों का मार्गदर्शन है। पांडवों के पतन का कारण भूखंड का असमान बँटवारा है। गुजोरों के उत्कर्ष का कारण सोने का हुआ सपुनाथ स्वामी और पाताल से आई दिव्य नवलाख गायें हैं। पतन का कारण अहंकार, मद्यपान और रखमा-साढु जैसी भविष्यदर्शी स्त्रियों के परामर्ष की अवहेलना करना है। अहंकार, अधम कृत्यों और असंयत कर्म कुल, वंश, जाति, राज्य और राष्ट्र का अंततः नाश कर देते हैं, यह संदेश-जीवनबोध-युगबोध ये मौखिक महाकाव्य देते हैं।

लिखित साहित्यिक महाकाव्यों का आधार स्रोत :

भारतीय लोकसाहित्य के संदर्भ में दीर्घ पद्य-गद्य के सायुज्यवाली संगीतप्रधान कथा (वारता) को इस विषय के अध्येता पवाड़ा, भारथ, महागाथा या लोकमहाकाव्य के नाम से जानते हैं। पश्चिम के लोकसाहित्यविद् इस कथा को मौखिक महाकाव्य (Oral Epic) के नाम से पहचानते हैं। 'लोक' में प्रचलित होते हुए भी ऐसा स्वरूप खास प्रकार के वाहक के चित्त में परंपरा में से स्थिर होने से और मुख के माध्यम से प्रस्तुत होने से विश्व की इस प्रकार की विद्याशाखा के अध्ययन के लिए लोकमहाकाव्य के लिए 'मौखिक महाकाव्य' शब्दसमूह भी प्रयुक्त हो सकता है। एसी अत्यंत दीर्घ कथा-कथनात्मक संगीतप्रधान पद्य-गद्य-नृत्य के सायुज्यवाली मौखिक रचना में साहित्यिक महाकाव्य (Literary Epic) के बहुत से लक्षण होते हैं इसका मुख्य कारण लिखित साहित्यिक या प्रशिष्ट महाकाव्य के लक्षण मौखिक महाकाव्य के लक्षणों

के आधार पर स्थिर हुए हैं। भामह (छठी शताब्दी), दंडी (७वीं शताब्दी), राजशेखर (११वीं शताब्दी), विश्वनाथ (१४वीं शताब्दी) आदि संस्कृत आचार्यों ने लिखित प्रशिष्ट महाकाव्य के लक्षण—जैसे कि ख्यात ऐतिहासिक कथानक, धीरोदात्त नायक, आरंभ में देवी-देवता स्मरण, सर्गबद्धता, संध्या, रात्रि, प्रातःकाल, विवाह, राजदरबार, दूत, युद्ध आदि वर्णन; वीर शृंगार, शान्त में से एक रस का प्राधान्य; धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष में से एक की प्राप्ति जैसे लक्षण यहाँ संपादित भील मौखिक महाकाव्यों में भी प्रतिबिंबित होते हैं। राजशेखर ने तो 'लोक' में प्रचलित तंत्रानुष्ठान^१ को भी स्वीकार किया है। जो आज भी लोकमहाकाव्यों की प्रस्तुति का बाह्य स्वरूप है। भोज का कहना है कि "आख्यान, उपाख्यान भी अभिनय, पाठ और गायन के साथ प्रस्तुत करने का स्वरूप है"^२। आगे सूचित किया है कि अभिनवगुप्त जैसे महान सिद्धान्तकारने भी कहा है कि, "जो 'लोक' में है उसका 'शास्त्र' में परिष्कार होता है, उसको व्यवस्थित किया जाता है। जो शास्त्र या शिष्ट में है वह कहीं कहीं लोक की स्वतः स्फुरित सहजता में से आया हुआ है। अतः मौखिक महाकाव्यों के बहुत से गुण एवं रचनाविन्यास की बहुत सी सूक्ष्म बातें साहित्यिक महाकाव्यों में शामिल हुई हैं। लोक की मौखिक परंपरा में जो स्थिर हो चुका था उसमें से भारत के 'एपिक ऑफ ग्रोथ' और 'क्लासिक एपिक'—प्रशिष्ट महाकाव्य उत्पन्न हुए हैं और इन मौखिक महाकाव्यों के आधार-स्रोत से ही कालक्रम में वाल्मीकि, व्यास, होमर आदि के जीवनबोध-युगबोधदर्शी विश्व के समर्थ लिखित शिष्ट महाकाव्य जन्मे हैं।

"लेरी होन्को महाकाव्य के १. साहित्यिक, २. अर्ध साहित्यिक या परंपरा संलग्न (ट्रेडिशन ओरीएन्टेड) और ३. शुद्ध रूप में मौखिक ऐसे तीन वर्गों में बाँटते हैं। साहित्यिक महाकाव्यों में मिल्टन के 'पेरेडाईस लोस्ट' का समावेश होता है; परंतु ऐसी साहित्यिक परंपराओं का उद्भव एवं विकास भी मौखिक परंपराओं में से ही हुआ है। मिलमेन पेरीने स्पष्ट किया है कि ग्रीक महाकाव्य मौखिक परंपरा में से ही सिद्ध हुए हैं।"^३ आलबर्ट लोर्ड इसी भूमिका पर यूगोस्लाविया की मौखिक परंपरा में प्रचलित लोकमहाकाव्यों का अध्ययन करके विषय की दृष्टि से तीन वर्गों में बाँटते हैं, १. परंपरागत महाकाव्य, २. धार्मिक महाकाव्य और ३. रोमांचक महाकाव्य।

डॉ. कृष्ण बिहारी सहल भारतीय लोकविद्या के संदर्भ में लोकमहाकाव्यों को चार वर्गों में बाँटते हैं, (क) वीर कथात्मक पवाड़े (ख) प्रेम कथात्मक पवाड़े (ग) रोमांच कथात्मक पवाड़े और (घ) निवृत्ति कथात्मक पवाड़े।^४ यह वर्गीकरण भील महाकाव्यों पर भी लागू होता है।

लिखित शिष्ट महाकाव्यों के सृजन-स्रोत लोक की मुख परंपरा से उत्पन्न लोकमहाकाव्यों में निहित हैं। विश्व के कथनात्मक वीरताप्रधान आख्यानों में कथा या वारता का स्वरूप रूढ़ हुआ था उसमें से ही शिष्ट महाकाव्य सिद्ध हुए हैं।

रोम-सीतमानी वारता में इन्द्र (एंदर) शब्द मेघ के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। वेदों में भी इन्द्र का एक अर्थ "गर्जना के साथ बरसात के रूप में पृथ्वी पर आनेवाला होता है।" मेघ के उग्र रूपक में से ही इन्द्र का चरित्र वीर के रूप में विकसित हुआ है। ऋग्वेद में कहा गया है हि वीरा

सैन्यः, इन्द्र वीर है और वह सेना के साथ है (१.८१.२) । पवन जैसे प्राकृतिक तत्त्व की भी ऋग्वेद में वीर के रूप में कल्पना की गई है । मरुत् इन्द्र का सहायक है, धृष्वयः वीराः, अत्यंत शक्तिशाली वीर है (१.८५.१) । 'भीलों का भारथ' में अभिमन्यु के विरुद्ध युद्ध में पवनदेव (मरुत) इन्द्र की सहायता के लिए आते हैं । ऋग्वेद में जो वीर युद्ध में विशेष वीरता दिखाते थे, उन के गीत रचे जाते थे । मरुतों को कवि कहता है, "महान इन्द्र के गीत गाओ । जो गीत गायेंगे वह ब्रह्म है ।" ऋग्वेद में ब्रह्म का एक अर्थ काव्य होता है । "ब्रह्म मूलरूप में किसी वीर की प्रशंसा में रचा हुआ काव्य है । यह ब्रह्म ही सही अर्थ में वीरगाथा है ।" ५ ये वीरगाथाएँ लोक में से ही ऋग्वेद में प्रविष्ट हुई हैं । देव याजस्वन्तो न वीराः पनस्यवः, देव शक्तिशाली पार्थिव वीरों के समान स्तुतियों की कामना करते हैं (१०.७७.३) । इस कथन के अनुसार यह संकेत मिलता है कि इस कवि के मतानुसार पार्थिव वीरों का प्रशस्ति काव्य पहले आरंभ हुआ, उसके अनुकरण पर देवों की स्तुतियाँ की जाने लगीं । ६

प्रशस्ति शब्द का सीधा अर्थ है प्रशंसा या प्रशंसात्मक काव्य । राजानो न प्रशस्तिभिः, जैसे राजा प्रशस्ति से शोभित होते हैं (९.१०.३) । ऋग्वेद का सूक्त १/३२ और शुक्ल यजुर्वेदीय रुद्राष्टाध्यायी का तृतीय अध्याय इन्द्र-स्तुति, वीर प्रशंसा का है । जो लोक में प्रचलित प्रशस्तियों में से रचित होने की संभावना है । विजयी और मृत राजा की प्रशस्ति रचने की परंपरा पूर्वकाल से आरंभ कर नजदीक के भूतकाल तक चली है । भारथ, राठोरवारता और रोम-सीतमानी वारता में से मुख्य साधु द्वारा कहे जाते जीवित और मृत वीरों के प्रशंसात्मक कथन प्राप्त होते हैं । जैसे कि "पांडव पृथ्वी पर के प्रथम देव हैं ।" "राठोड़ देश के दीपक थे; पृथ्वी के प्रधान ! उनकी मृत्यु से आकाश में से गुरु का तारा डूब गया ।" 'हूरा' की स्थापना के प्रसंग पर गाये जाते मृतक के गुण-गान और वीरताप्रधान मृत्युगीतों में से तत्कालीन 'राठोरवारता', 'भारथ', 'रोम-सीतमा' और 'गुजरांनो अरेलो' जैसे महाकाव्य सिद्ध हुए हैं ।

मौखिक महाकाव्यों में कथनकला पूर्ण रूप में विकसित होती है । जिसको इस विषय के अध्येता 'Epic of Growth' की संज्ञा देते हैं । महाभारत के बहुत से चरित्र-पात्र कथनकला (वक्तृत्व) में कुशल हैं । यह कौशल्य रामायण में भी है । किन्तु, महाभारत लोकसंस्कृति से ज्यादा नजदीक रहा है । इसी में से उसके स्वरूपने आकार ग्रहण किया है । बहुत संभव है कि व्यासने पहली बार लोक की मौखिक परंपरा में से महाभारत का संपादन किया हो । लोक में प्रचलित सामग्री के आधार पर अपने महाभारत का रूप संगठित किया हो । इस विषय के विद्वानों ने सिद्ध किया है कि वाल्मीकि, व्यास, कालिदास, दान्ते, होमर द्वारा सिद्ध हुए लिखित शिष्ट महाकाव्यों और नाटकों का मूल स्रोत लोकविद्या (Folklore) में से स्थिर हुए लोकमहाकाव्य, लोकाख्यान और लोककथाएँ हैं । कालिदास, माघ आदि के रघुवंश, शिशुपालवध आदि प्रशिष्ट महाकाव्यों के सृजन के आधार रामायण-महाभारत हैं; और इन प्रशिष्ट महाकाव्यों के आधार पर दंडी, रुद्रत जैसे आचार्यों ने लिखित शिष्ट महाकाव्यों के लक्षण स्थिर किए हैं ।

नियत पाठ

मौखिक महाकाव्यों के अध्येता लेरी होन्को (Lauri Honko) अपने मनोगत पाठ और बहुरूपता की विभावना में यह समझाने का प्रयत्न करते हैं कि 'एक ही महाकाव्य के अलग अलग गायक भिन्न भिन्न कथातंतु के घटना-प्रसंगों को चित्त में धारण करते हैं।' परंतु, सही अर्थ में ऐसा नहीं होता। मैंने १९८४ से १९८७ के दौरान रोम-सीतमानी वारता और भारथ का ध्वनिमुद्रण ऑडियो कैसेट्स पर करते समय उत्तर गुजरात के खेड़ब्रह्मा-दांता तहसील के अलग अलग गाँव के दस साधु गायकों की मुलाकात लेकर उनके मनोगत पाठ का अध्ययन किया था। तत्कालीन प्रत्येक साधु वाहक को प्रत्येक महाकाव्य के कथानक के सभी प्रसंग मौखिक नहीं थे। परंतु, एक ही प्रकार के जितने प्रसंग कंठस्थ थे उनमें बोली एवं कथनी के अतिरिक्त खास फर्क नहीं था। इसके उपरांत १९८३ में खेड़ब्रह्मा तहसील के बहेड़िया गाँव के निवासी गमार जीवाभाई झालाभाई से मैंने 'गुजरांनो अरेलो' ध्वनिमुद्रित करने से पहले अध्ययनपोथी में लिख लिया था। इसके बाद दीपावली के पर्व के समय गुजरांनो अरेलो ऑडियो कैसेट्स पर ध्वनिमुद्रित किया था। महाकाव्य के पाठ को तैयार करके लिखितरूप और ध्वनिमुद्रितरूप की तुलना करने से पता चला था कि एक ही व्यक्ति के अलग अलग समय के पाठ में कोई खास अंतर नहीं है।

ई. १९९१ में प्रकाशित 'The epic of Pabuji' के संपादक जे.डी. स्मिथने मौखिक महाकाव्य के मनोगत पाठ का अध्ययन किया है। कभी आपस में नहीं मिले पाबूजी के सात गायकों के ध्वनिगत पाठ की तुलना करके यह स्पष्ट किया है कि मूलभूत पाठ एक ही है। कथागायक याद करते करते कथा कहता नहीं है। किन्तु पाठ उसके चित्त में मौखिक परंपरा में से पहले से ही स्थिर हुआ होता है। कथावाहक ऋतुचक्र के अनुसार आते पर्व के वातावरण में आवश्यक घटना-प्रसंगों को गाता एवं कहता है। अतः स्पष्ट होता है कि भील समाज के महाकाव्य मौखिक होते हुए भी उनके पाठ साहित्यिक महाकाव्यों की तरह स्थिर एवं निश्चित होते हैं।

लोकमहाकाव्यों के संशोधन-संपादन का आरंभ :

विश्व में मौखिक महाकाव्यों का संशोधन-संपादन और अध्ययन का आरंभ ई. १८३५ में फिनलैन्ड के एलियास लोनरोट के 'कालेवाला' राष्ट्रीय लोकमहाकाव्य के संपादन से होता है।

गुजरात में १९८३ से १९८७ के दौरान ऋतुचक्र के अनुसार आते 'धूळ्या का ठाकुर का पाट', 'कोबरिया ठाकुर का पाट', 'हूरो', 'हमाध' (समाधि), दीपावली जैसे धार्मिक-सामाजिक पर्व-प्रसंगों में सहभागी होकर मैंने ८२५ श्रव्य (ऑडियो) और १२ दृश्य-श्राव्य (विडियो) कैसेटों पर खेड़ब्रह्मा तहसील के खेड़वा गाँव के साधु नाथाभाई भूराभाई गमार से 'भीलों का भारथ' एवं 'राठोरवारता', पंथाल गाँव के निवासी साधु नवजीभाई देवाभाई खांट से 'रोम-सीतमानी वारता' और बहेड़िया गाँव के निवासी गायक जीवाभाई झालाभाई गमार से 'गुजरांनो अरेलो' ध्वनिमुद्रित किया। इन महाकाव्यों को १९९७ तक की समयावधि में प्रकाशित करवाके मौखिक

लोकमहाकाव्यों के संशोधन-संपादन और अध्ययन के कार्य की नींव डाली ।

इन लोकमहाकाव्यों के संशोधन-संपादन का कार्य चल रहा था । उस समय १९८४ और १९८७ में गुजरात के 'रंगबहार प्रतिष्ठान' के साथ मुझे युरोप के देशों में 'विश्व लोकविद्या उत्सव' — 'वर्ल्ड फोकलोर फेस्टिवल' में सहभागी होने का निमंत्रण मिला था । इस समय आदिवासी स्त्री-पुरुष वाहक-गायकों के साथ फ्रान्स, इंग्लैंड, इज़रायल, स्पेन, बेल्जियम जैसे देशों के अनेक शहरों-गाँवों में ढाई महीने तक लोकमहाकाव्यों एवं लोकनृत्यों के निदर्शन-प्रदर्शन का सुयोग प्राप्त हुआ था । बाद में भील लोकमहाकाव्यों के प्रकाशन से युरोप और अमरिका के इस विद्याशाखा के जे.डी. स्मिथ (केम्ब्रिज युनिवर्सिटी, यु.के.), ग्रे.डी. एलेस (मेरीलैंड कॉलिज, अमरिका) जैसे विद्वानों का ध्यान इन महाकाव्यों की ओर आकर्षित हुआ था ।

ई. १९८० से पश्चिम की इस विद्याशाखा में मौखिक महाकाव्यों के अध्ययन में एक विशेष मोड़ आया हुआ देख सकते हैं । अध्येताओं का ध्यान गायक या कथक के मानस में स्थित मनोगत पाठ की ओर गया है और उसके सर्वांगी अध्ययन की दिशा खुली है । ए.टी. हाट्टो (५.३. लडुह्लू) द्वारा संपादित 'ट्रेडीशन ओफ हीरोईक एण्ड एपिक पोएट्री' और लेरी होन्को द्वारा संपादित 'रिलीजीयन, मिथ एन्ड फोकलोर ईन ध वर्ल्ड एपिक' तथा जे.डी. स्मिथ द्वारा 'ध एपिक ओफ पाबूजी' इस विद्याशाखा के महत्त्व के ग्रंथ हैं । गुजराती लोकसाहित्य में 'रोमसीतमानी वारता', भीलों का भारथ', 'राठोरवारता' और 'गुजरांनो अरेलो' महत्त्व के ग्रंथ माने जाते हैं ।

ई. २००७ से २०११ के समय में सार्क फाउन्डेशन, दिल्ली में आयोजित 'ऋषि स्रहस्यरुहस्रश्च हृष्ट लक्ष्मणश्च' में एकाधिक परिसंवादों और उत्सवों में मुझे आदिवासी गायक-वाहकों के साथ भील लोकमहाकाव्यों का निदर्शन एवं रसदर्शन करवाने का सुयोग प्राप्त हुआ था । परिणाम स्वरूप भारत, श्रीलंका, पाकिस्तान, नेपाल, भूतान, बांग्लादेश, अफघानीस्तान, मालदीव — आठ सार्क देशों के विद्वानों का ध्यान आदिवासी लोकमहाकाव्यों की ओर गया था ।

प्रकरण-५ में 'रोम-सीतमा की वारता' का स्थानिक संदर्भ दिया गया है ।

संदर्भ

१. लोकसाहित्य का अध्ययन, डॉ. त्रिलोचन पाण्डेय, पृ. ४७, प्रकाशक : लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद-१, प्रथम संस्करण : १९७८
२. कथा संस्कृति, संपादक : कमलेश्वर, पृ. ५६, प्रकाशक : भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली - ११०००३, पहला संस्करण : २००६
३. लोकमहाकाव्य : स्वरूप-प्रवाह-संशोधन दृष्टि, डॉ. हसु याज्ञिकनो अप्रकट लेख, पृ. २२
४. राजस्थानी लोकगाथाकोश, डॉ. कृष्ण बिहारी सहल, पृ. २, प्रकाशक : राजस्थानी साहित्य संस्थान, जोधपुर, प्रथम संस्करण : २०००
५. भारतीय संस्कृति और हिन्दी प्रदेश-१, रामविलास शर्मा, पृ. ५०

प्रकाशक : किताबघर, नयी दिल्ली-११०००२, प्रथम संस्करण, १९९९

६. एजन, पृ. ५१

७. Male Madeshwara, A Kannada Oral Epic, Translated by C.N. Ramachandran & L.N. Bhatt, Introduction.

प्रकरण - ११

आदिवासी लोकसाहित्य के संशोधन-संपादन की चुनौतियाँ

भौगोलिक पर्यावरण और समाज की दृष्टि से आदिवासी समाज ग्रामीण एवं नगरीय समाज से विविध रूपों में भिन्न है। पहाड़ों में विकेन्द्रित रूप से बसा यह समाज ग्राम एवं नगर के पितृसत्ताक समाज की जीवनरिति, जीवनयापन, भाषा-बोली, खानपान, मान्यताएँ इत्यादि से अलग है। ग्राम या नगर जीवन के पितृसत्ताक समाज से आए हुए लोकसाहित्य के शोधार्थी-संपादक को आदिवासी क्षेत्र का भौगोलिक पर्यावरण, उस समाज की सामाजिक-धार्मिक जीवनरिति, मान्यताएँ, व्यवहार की भाषा-बोली आदि विविध मुश्किलें एवं चुनौतियों को झेलते-झेलते, उचित समाधान खोजते खोजते पूरे आदिवासी समाज को उसके सांस्कृतिक संदर्भ में आत्मसात् करना होता है।

चुनौतियाँ

(१) भौगोलिक पर्यावरण

ग्रंथालय में बैठकर नियत आदिवासी क्षेत्र का स्थानिक भूगोल, इतिहास, उस समाज की संस्कृति, शोध-प्रविधियाँ (संशोधन पद्धतियाँ) आदि की माहिती पुस्तकों से पढ़कर आए शोधार्थी को इस प्रकार का पोथियों का ज्ञान आदिवासी क्षेत्र के व्यवहार जगत में खास उपयोगी नहीं होता। आदिवासी विस्तार में यातायात की सुविधा नहींवत् होती है। अतः आदिवासी लोकसाहित्य के संशोधक-संपादक को आरंभ में भौगोलिक पर्यावरण का सामना करना होता है। बस से उतरने के बाद भी केन्द्रित शहर या गाँव से आए आदिवासी लोकसाहित्य के शोधार्थी को गाँव के बीच खड़ा हो तो भी उसको गाँव मिलता नहीं। क्योंकि उसके मानस में केन्द्रित गाँव या शहर की कल्पना होती है। जब कि आदिवासी गाँव भौगोलिक परिस्थिति के अनुसार पहाड़ों की तलहटियों पर पाँच से सात किलोमीटर के विस्तार में विकेन्द्रित रूप से बसा हुआ होता है। अतः मुख्य मार्ग तक बस की सुविधा हो तो भी पहाड़ी प्रदेश में नदी-नाले तलहटियों को पार करके नियत स्थल या लोकसाहित्य की माहिती देनेवाले वाहक गायक-कथक के घर पहुँचना होता है। वर्ष के ऋतुचक्र के अनुसार आते सामाजिक-धार्मिक पर्व-प्रसंगों में सहभागी होकर, सामाजिक संस्कार, एवं धार्मिक विधि-विधान संलग्न मौखिक परंपरा को जानना होता है। इसके लिए उस आदिवासी समाज की भाषा-बोली को आत्मसात् करना होता है।

(२) भाषा-बोली

शोधार्थी को आदिवासी लोकसाहित्य के संशोधन-संपादन के लिए उसके समाज एवं वाहक गायक-कथक के साथ व्यवहार करना होता है। गुजरात में उत्तर-पूर्व के पहाड़ी प्रदेश में अनेक आदिवासी समुदाय बसते हैं। इन समुदायों का समाज एवं बोली भिन्न भिन्न होते हैं। अलग अलग परंपरा में जीते आदिवासी 'लोक' की बोली का स्वरूप भी उनका अपना होता है। उसे

सम्बंधित लोकसमुदाय के संदर्भ में ही समझना होता है। शोधार्थी के अपने समाज की बोली का लगाव एवं प्रभाव कई बार बाधक सिद्ध होता है। एक प्रसंग दृष्टव्य है :

उत्तर गुजरात के खेड़ब्रह्मा कसबे में जलाऊ लकड़ी का गट्टर बेचने आई, प्रौढ़ावस्था पार कर चुकी एक भील आदिवासी स्त्री को डोही (बुढ़िया) कहते बराबर ही उसके चेहरे पर आवेश उभर आया था, और गुस्सा होकर बोली थी, 'हूँ 'ला ! उं थार डोही हूं?' अर्थात् क्यों रे ! मैं तुम्हारी पत्नी हूँ कया? इस अंचल की भीली बोली के संदर्भ में 'बावा' का पर्याय श्वसुर, 'दादा' का अर्थ देवर तथा 'सीसो' शब्द स्त्री के जननांग विषयक अश्लील गाली के लिए प्रयुक्त होता है।

(३) रीति-रिवाज—नीति-नियम

आदिवासी समाज अन्य नगर-ग्राम समाज से मूलतः बहुत सी बातों में अलग होता है। अतः आदिवासी समाज के बहुत से रीति-रिवाज एवं नीति-नियम भिन्न होते हैं। शोधार्थी को आदिवासी क्षेत्र में प्रवेश करने से पहले आदिवासी समाज के रीति-रिवाजों, नीति-नियमों से परिचित होना पड़ता है और भौतिक चीजवस्तुओं के संलग्न लोकमान्यताओं को भी समझना होता है। ये मान्यताएँ उनकी-संस्कृति के सामाजिक-धार्मिक संदर्भ में से उद्भूत होती हैं। इस क्षेत्र की एक लोकमान्यता के अनुसार पति-पत्नी जिस खटिया का उपयोग सहशयन के लिए करते हैं उस खटिया पर अन्य व्यक्ति बैठ नहीं सकता। यदि बैठ जाता है तो मेहमान हो तो भी मारी झगड़ा मोल लेता है। इस खटिया की पहचान के लिए खटिया की एक दोरी पर लाल कपड़ा बंधा हुआ होता है। आगंतुक को इसे देख लेना होता है।

(४) धार्मिक आस्था

मौखिक परंपरा का संधान संबंधित प्रदेश के देव-देवियों के स्थानों के साथ भी होता है। अन्य समाज के शोधार्थी को निर्जीव लगते ये स्थान 'लोक' के जीवन के मूलाधार होते हैं। इन देवस्थानों के साथ लोक की आस्था जुड़ी होती है। इन देवी-देवता की उपासना-अर्चना के समय अन्य समाज के व्यक्ति का बिना अनुमति प्रवेश और उस उपासना विधि एवं देवी-देवता के बारे में प्रश्नोत्तरी करना आदिवासी साधु या सहभागियों के रोष का कारण बन सकता है। लोकसमूह का रोष क्रोध में परिवर्तित हो तो अपमानित होकर शोधार्थी को धार्मिक स्थान छोड़ना भी पड़ता है। आदिवासी लोक के ऐसे धार्मिक स्थलों में प्रवेश करने से पहले साधु और सहभागी समाज की अनुमति लेना अत्यंत आवश्यक होता है।

(५) वाहक गायक-कथक

आदिवासी समाज के स्वरूप को जानने के लिए ऋतुचक्र के अनुसार आते सामाजिक-धार्मिक पर्व-प्रसंगों में सहभागी होकर बाह्य निरीक्षणों एवं प्रश्नोत्तरी प्रविधि (पद्धति) से काम चल सकता है। किन्तु शोधार्थी को लोकसाहित्य का वहन करनेवाले वाहक के आंतर मानस को जानने के लिए लोकयात्रा करनी होती है। यह यात्रा कैलास-मानसरोवर की यात्रा से भी कठिन होती है। कैलास-मानसरोवर की यात्रा में तो विषम भौगोलिक पर्यावरण का

सामना करके कैलास-मानसरोवर के बाह्य स्वरूप के दर्शन कर सकते हैं। किन्तु आदिवासी लोकसाहित्य के वाहक के 'मानससर' के दर्शन करने के लिए तो अनेक यात्राएँ करनी पड़ती हैं। इस कार्य में कभी सफल तो कभी निष्फल यात्राएँ होती हैं। निष्फल खेपों से हताश न होकर यात्रा के पवित्र भाव के साथ संशोधक-संपादक को आगे बढ़ना होता है। तभी वह अपने लक्ष्य तक पहुँच सकता है।

अनेक वर्षों से विरासत के रूप में संचित धार्मिक एवं सामाजिक परंपरा के साथ जुड़े लोकमानस की प्रकृति निराली होती है और उसके साथ जुड़े वाहक का मिजाज और खुमार भी निराला होता है। उसके पीछे-पीछे एक सप्ताह के पहाड़ी मार्ग के सफर के बाद मेरे एक 'अरेला' गायक ने मुझे टके की सुना दी थी, 'वातना तो अमे तणी हैयें। केंवी वोंय तो स केंइए; नये केंइए।' कथा के तो हम मालिक हैं; कहना न कहना हमारी मरजी! कहें भी और ना भी कहें।' आखिरकार उसकी सेवा-सुश्रुषा के फलस्वरूप एक माह पश्चात् उसके निज-अंतर का पिटारा खुला और मैं निहाल हो गया था।

वाहक का मिजाज एवं खुमार झेल सके और उसका विश्वास संपादित कर सके वह शोधार्थी ही साधु एवं भोपा (ओझा) के मानस में लोकसाहित्य का जो बड़ा महासागर तरंगित हो रहा है; गीत, पुराकथा, मंत्रों के झरने; वारता, आख्यानों की नदियों बह रही हैं एवं लोकमहाकाव्यों के महानद महासागर में भरते हैं और उछलते हैं उसके दर्शन कर सकता है।

लोकसाहित्य का वाहक मिलने के बाद, उसकी वाणी-बोली में सहृदयता से बातें करनी होती हैं। उसकी प्रकृति-(स्वभाव) मिजाज से अनुकूल होकर, अच्छे-बुरे प्रसंगों में सहभागी होकर उसको अपना बनाना होता है। लंबे अर्से के सहवास के बाद वह खुश हो तो ही शोधार्थी-संपादक लोकसाहित्य के ध्वनिमुद्रण का कार्य आरंभ कर सकता है।

वाहक के मानस में हजारों पंक्तियों में व्याप्त लोकमहाकाव्य को ध्वनिमुद्रित करने के लिए अनेक दिन एवं माह और ज्यादा लोकमहाकाव्यों को प्राप्त करने हो तो वर्षों तक शारीरिक-मानसिक चुनौतियाँ झेलकर, करने की यह लोकयात्रा होती है।

शोधार्थी को सच्चे मन से लगन लगे तो ही वह उस दिशा की ओर जा सकता है। जाने के बाद भी संशोधक-संपादक वाहक के मानस-जगत में तभी प्रवेश कर सकता है जब उसके साथ-सामाजिक संबंध स्थापित करके उससे घनिष्ठ संपर्क में रहता है। यह तब ही शक्य बनता है जब वाहक और उसका समाज शोधार्थी को सामाजिक संबंधों से स्वीकार करते हैं।

(६) बदल रहा युग संदर्भ

लोकसाहित्य में तुलनात्मक अध्ययन के लिए पाठान्तर प्राप्त करने की आवश्यकता होती है। किन्तु शोधार्थी-संपादक के सामने बदल रहा युग संदर्भ एवं स्वयं को क्षीण करता हुआ समय बड़ी चुनौतियाँ बनकर आते हैं। १३८३ में प्रथम भील लोकमहाकाव्य 'गुजरांनो अरेलो' का ध्वनिमुद्रण करने का आरंभ किया था तब भील आदिवासी पहाड़ी क्षेत्रों पर 'यंत्रयुग' और 'कृतक सुधार' का

आक्रमण हो चुका था। परिणामतः उस समय की नई आदिवासी पीढ़ी त्वरा से अपनी परंपरित जीवनरिति छोड़ रही थी। दूसरी ओर मौखिक लोकसाहित्य, प्रस्तुतिकरण, कथन एवं गेय कला तथा आंगिक कला जिनके कंठ, हस्त और चरणों में हैं, वे परंपरा के महान भील आदिवासी गायक, नट एवं कथक वृद्धत्व के कारण मृत्यु के किनारे पर आकर खड़े थे। और मैं चालीसी पार करने की तैयारी कर रहा था। उस समय 'गुजरांनो अरेलो' लोकमहाकाव्य के गायक जीवाभाई गमार ७० वर्ष के थे। उस महाकाव्य का ध्वनिमुद्रण संपन्न होते ही वे दिवंगत हो गये थे। जीवाभाई को १२ लोकाख्यान-लोकमहाकाव्य कंठस्थ थे। उनमें से ३ ही ध्वनिमुद्रित हो सके थे। बाकी के उनके साथ कालकवलित हो गए थे।

ऐसे विषम संजोगों में माहितीदाता-वाहक के दिवंगत होते ही बहुमूल्य मौखिक लोकसंपदा की सांस्कृतिक होनारत सर्जित होने की संभावना हो तभी योग्य माहितीदाता वाहकों के मानस में स्थित लोकसंपदा का ज्यादा ध्वनिमुद्रण कर लेना चाहिए। तो ही कोई एक समाज के लोकसाहित्य का एक पूरा मानचित्र स्पष्ट हो सकेगा। यह मानचित्र भविष्य की पीढ़ी के लिए लोकविद्या-लोकसाहित्य के अध्ययन का विषय बन सकेगा।

(७) लिप्यन्तर

कैसेटों के ध्वन्यांकन से लिप्यन्तर करने के लिए एक दीर्घ लोकमहाकाव्य हो तो टेपरेकर्डर लेकर छः माह से एक वर्ष, एक आसन पर बैठना होता है। एक से ज्यादा मौखिक लोकमहाकाव्यों-लोकाख्यानों, गीतकथा-कथागीतों का लिप्यन्तर करना हो तो शोधार्थी-संपादक को एक आसन पर बैठकर १२ वर्ष का एक तप या सत्र पूर्ण करना होता है।

(८) अनुवाद

कैसेट से लिप्यन्तरगत पाठ तैयार होने के बाद संपादक के सामने उसका अनुवाद बड़ी चुनौती बनकर आता है। आदिवासी समाज के संदर्भ में कृति को समझने के लिए संपादक के सामने सबसे पहले बोलीगत अर्थ आते हैं। प्रत्येक लोक-समुदाय की बोली का रूप अपने समाज जीवन के संदर्भ में से उद्भूत होता है। उसको समाज जीवन के संदर्भ में ही समझा जाता है। शोधार्थी-संपादक के अपने समाज की बोली के अर्थ बहुत बार बाधक होते हैं (जिस की चर्चा आगे 'भाषा-बोली'गत चुनौती में की गई है)।

अनुवाद के संबंध में लक्ष्य में लेने की दूसरी बात यह है कि उसका अनुवाद शिष्ट साहित्य की कृति से नहीं किन्तु लोककृति से ज्यादा नजदीक होना चाहिए। इसमें उस समाज की संस्कृति-समाज-प्रदेश की सुगंध होनी चाहिए।

(९) प्रकाशन

पाठ तैयार हो जाने के बाद संपादक को पुस्तक रूप में प्रगट करने के लिए प्रकाशक के पास पहुँचना है। आर्थिक मुनाफ़ा ही देखनेवाले प्रकाशक शिष्ट-प्रशिष्ट साहित्य की कृतियों को प्रगट करने के लिए तैयार नहीं होते। आदिवासी लोकसाहित्य की कृति की हस्तप्रत तो हाथ में लेकर देखने से ही

बीछूने डंक दिया हो वैसी वेदना का अनुभव करते हैं। अतः तुरंत ही हस्तप्रत को संशोधक-संपादक के हाथों में थमा देते हैं। आर्थिक दृष्टि से यह सही भी है। शोधार्थीने भी आदिवासी लोककृति को प्राप्त करने के लिए शारीरिक, मानसिक एवं आर्थिक कष्ट सहके वर्षों का तप किया होता है। जीवन के अंतिम चरण में प्रविष्ट वाहक को भी अपनी छपी हुई पुस्तक देखने की महेच्छा होती है। संपादकने भी पुस्तक प्रगट करके उसके हाथ में देने का नैतिक वचन दिया होता है। नियत समय में संपादक भी वाहक गायक एवं-उसके सहयोगी रागियों के हाथ में छपी हुई पुस्तक भेंट न दे सके तो उसे असत्यभाषी माना जायेगा। फलस्वरूप दूसरी कृति ध्वनिमुद्रित करवाने के लिए राजी नहीं होंगे। अतः उसे स्वखर्च से पुस्तक प्रगट करने का साहस भी करना होता है।

शोधार्थी-संपादक भी चाहता है कि संपादित कृति का अध्ययन-मूल्यांकन हो। अतः उसे आलोचक को स्वखर्च से पुस्तक पहुँचानी होती है।

(१०) आलोचक

कृति के अध्ययन के बाद लोकसाहित्य के सिद्धांत-लक्षणों से अनजान आलोचक बहुत बार शिष्ट-प्रशिष्ट व्यक्ति-साहित्य के सिद्धान्तों से कृति का मूल्यांकन करता है। अतः आदिवासी समाज, कृति और उसके संशोधक-संपादक को अन्याय होता है। अतः आदिवासी लोकसाहित्य की कृति का अध्ययन-मूल्यांकन करनेवाले आलोचक को आदिवासी समाज, समाज के 'लोक' का जीवनदर्शन-धर्मदर्शन-इस दर्शन में से उद्भूत कृति एवं उस समाज के साथ ओतप्रोत होकर शोधार्थी-संपादकने इस कृति के बारे में जो बातें कही हो, उनको प्रथम लक्ष्य में लेकर कृति का अध्ययन करना चाहिए।



प्रकरण - १२
उपसंहार एवं उपलब्धियाँ
(सारांश)

लोक, लोकविद्या और लोक-संस्कृति

लोकविद्याविद् (Folklorist) मौखिक परंपरा को लोकविद्या (Folk-lore) की एक उपशाखा के रूप में स्वीकार करके उसका अध्ययन करते हैं। 'लोक'की इस मौखिक परंपरा के लिए भारतीय मौखिक साहित्य में 'लोक-साहित्य' शब्द रूढ़ हुआ है। भारतीय लोकसाहित्य में Folk-lore और उसकी एक उपशाखा के रूप में व्यवहृत 'Folk-literature', ये दोनों शब्द पश्चिम से आए हुए हैं। प्रारम्भ में पश्चिमी विद्वानों ने जिस 'Folk' को 'Literature' का स्रोत माना है वह आदिम, असभ्य, जंगली लोग — जो अंध-विश्वासों से मौखिक साहित्य का पोषण प्राप्त करते हैं। बीसवीं शताब्दी के प्रारंभिक दशक में रोबर्ट ग्रीव्स, फ्रेंक सिजविक, फ्रांसिस गुमर, जेम्स फ्रेज़र जैसे पश्चिम के विद्वानों ने 'Folk-lore' की शाखा-प्रशाखाओं की आलोचना करते हुए यहाँ तक कहा है कि Folk-lore (लोकविद्या-लोकवार्ता) मनुष्य की आदिम अवस्था की अभिव्यक्ति है; वह असंस्कृत समाज का विषय है तथा उसकी विशेषताएँ अब विगत अवशेषों में ही देखी जा सकती हैं। 'आदिम' और 'कबीलाई' समाज के प्रति संकुचित दंभपूर्ण दृष्टि के कारण उन्होंने समग्र वनवासी-आदिवासी और ग्रामवासी समाज को पिछड़ा, अनपढ़, निर्जीव, अशमीकृत और व्यतीत समाज कहा है। 'लोक' और उसके मौखिक परंपरा के 'साहित्य' विषयक पश्चिमी विद्वानों का यह मत लोक संबंधी भारतीय चिंतन के साथ सुसंगत नहीं है।

भारतीय संस्कृति का आदिमूल यह 'लोक' नहीं है। भारतीय दृष्टि लोक को पुराना, आदिम, विस्मृत और व्यतीत समाज नहीं मानती। इस लोक का गौरवगान करते हुए महाभारत में व्यास कहते हैं, "प्रत्यक्षदर्शी लोकानां सर्वदर्शी भवेन्तरः" (उद्योग पर्व, ४३-३६, पूना) । "प्रत्यक्षदर्शी लोक ही समग्र विश्व को हर तरफ से देखनेवाला होता है।" जो 'लोक' को जानता है वह सर्व को जानता है। चाणक्य 'अर्थशास्त्र' में राजा के लिए लोकसत्ता को सर्वज्ञता (श्लोक-५४२) कहते हैं और आगे स्पष्ट करते हैं, "शास्त्रऽपि लोकअज्ञो मूर्खतुल्य (५४३) ।" अर्थात् जो शास्त्र का ज्ञानी होकर भी लोक से अनभिज्ञ हो, तो वह मूर्ख जैसा है। भारतीय दृष्टि लोक को संपूर्ण जीवन में व्याप्त और जीवन के सजीव अंग के रूप में स्वीकार करती है। अतः वह लोक को अशमीकृत और निर्जीव नहीं, अपितु निरंतर अंकुरित होते, सदा वर्धमान और नीत नये रूप धारण करते सजीव जीवन के रूप में देखती है। पश्चिम की मानवतंत्र और समाजशास्त्रीय ब्राह्म दृष्टि लोक की आंतरिक और परिवर्तनशील ऊजा-शक्ति को नहीं देख सकी है। लोक समाज के विघटन के साथ विघटित नहीं होता किन्तु परिवर्तित होता है। वह अपनी

अपार जिजीविषा के साथ सामाजिक-सांस्कृतिक परिवर्तन को आत्मसात् कर आधुनिक यंत्रयुग के थपेड़े झेलता परिवर्तित होता; रूपान्तरित होता है; किन्तु मरता नहीं है।

लोक के रूपांतरणशील स्वभाव को न समझ पाने के कारण ही पश्चिम के नृतत्वशास्त्रियों को यह देखकर अचरज होता है कि भारत जैसे देशों में लोक-संस्कृति अब भी जीवंत रूप में विद्यमान है। आदिवासी और लोकसमाजों में अब भी ऐसी अनेक प्राक्-आधुनिक परंपराएँ जीवित हैं जिनको विकास के आधुनिक झंझाप्रवाह ने नष्ट नहीं कर दिया है। इन समाजों में आधुनिकता के सम्पर्क से पैदा हुए बदलाव साफ दिखाई देते हैं, लेकिन परम्परा से अपसरण की प्रवृत्ति यहाँ इतनी प्रबल नहीं दीखती कि उनकी सांस्कृतिक अस्मिता से विसर्जित हो उठने की आशंका उत्पन्न हो जाए।

बीसवीं सदी के आरंभ में लोकविद्या (Folklore) का अध्ययन पश्चिम में हुआ था। पश्चिम के अध्येताओं ने लोक का अर्थ आदिवासी (Tribal) किया था। अध्ययन के दूसरे चरण में उसका अर्थ ग्रामीण किया गया और यह अर्थ व्यापक भी हुआ। अब लोक का अर्थ 'जिसके भाषा-बोली, वस्त्राभूषण, जीवन एवं जगत को देखने-समझने एवं अनुभव करने का दृष्टिकोण एक है वैसा एथनिक ग्रुप' है। ऐसे सामाजिक समूह में नागरिक एवं शिक्षित का भी समावेश होता है। उनका भी अपना 'लोर' होता है जो मौखिक एवं लिखित भी होता है। ऐसे सामाजिक समूह की परंपरित विद्या (ज्ञान), 'लोकविद्या' है और उसका मौखिक या लिखित साहित्य 'लोकसाहित्य' है।

व्यक्ति लिखित शिष्ट-प्रशिष्ट साहित्य का मूल्यांकन संस्कृत के आचार्यों की रसमीमांसा से करते हैं; कला के उपकरणों से करते हैं। ऐसे साहित्य का विवेचन हो सकता है। जब कि लोकसाहित्य लोक के संस्कृति-समाज के जीवन-मूल्यों से आविर्भूत होता है। ऐसे साहित्य का समकालीन कला के विवेचन के उपकरणों से मूल्यांकन नहीं हो सकता। किन्तु, लोक के संस्कृति-समाज के संदर्भ में उसका अध्ययन हो सकता है। अतः यहाँ 'आदिवासी लोकसाहित्यशास्त्र' के विषय के अनुसंधान में भील आदिवासी समाज, उस में से उद्भूत 'लोक' एवं 'लोकमानस' से आविर्भूत मौखिक साहित्य के स्वरूपों का उपसंहार एवं उपलब्धियाँ प्रस्तुत किए गए हैं। विषय का संदर्भ है, उत्तर गुजरात के खेड़ब्रह्मा तहसील के भील आदिवासियों की मौखिक परंपरा। विषय का प्रमुख आधार है, क्षेत्रकार्य आधारित लोकसाहित्य।

वर्तमानकालीन भील आदिवासी समाज

आदिवासी लोकसाहित्य की पृष्ठभूमि को विशदता से स्पष्ट करने के लिए सांप्रत समयके भील आदिवासियों के सामाजिक-धार्मिक जीवन का अध्ययन किया गया है। मानवशास्त्र और समाज शास्त्र के शोध-अनुसंधान से अब तक यह पूरा क्षेत्र अछूता है। अतः इस शोधार्थी ने विगत २५ वर्षों से भील समाज को नजदीक से देखा है, परखा है। वर्ष के ऋतुचक्र के मुताबिक आते

सामाजिक-धार्मिक पर्व-प्रसंगों में सहभागी होकर लिखी दो पुस्तकें 'डुंगरी भील आदिवासीओ' और 'आदिवासी ओळख' के आधार पर 'आदिवासी मौखिक साहित्य की पृष्ठभूमि' के अंतर्गत वर्तमानकालीन भील आदिवासी समाज का अध्ययन किया है।

पूर्वकालीन आदिवासी समाज आदि - स्त्री-पुरुष पूर्वज के वंश से विकसित होकर कुटुंब-कुल-गोत्र के रूप में विकेन्द्रित गाँवों में फैलाता है। यह सरल समाज कुल या गोत्र के सगे-संबंधियों से बनाता है। अतः जंगल, जमीन और जल के स्रोतों का अधिकार वैयक्तिक न होकर स्त्री-पुरुष से बने पूरे समाज का होता है।

पूर्वजप्रेम, पूर्वजपूजा और पूर्वज की ओर सम्मान की भावना होने से पूर्वजों की धरती की फसल और धरती बेच नहीं सकते। किन्तु पूर्वज और गोत्रदेवी-देवता की पूजा करके भेंट चढ़ाने के बाद फसल का समूह में उपयोग-उपभोग हो सकता है। पूर्वजों ने धरोहर में दी धरती से प्राप्त चीज-वस्तुओं का विनिमय होता है किन्तु बेची नहीं जाती।

सहभागी समाज

आदिवासी समाज सहकार और सहभागिता की नींव से आविर्भूत होने से समाज की प्रत्येक जीवनरीति और क्रिया-कलापों में सहभागिता और सहयोग के दर्शन होते हैं। इस समाज में जन्म से लेकर मृत्यु तक की प्रत्येक सामाजिक और धार्मिक प्रवृत्तियाँ सहयोग से की जाती हैं। एक ही वंश, कुल या गोत्र के रिस्तेदारों से रचित यह समाज या 'लोक' घर एक-दूसरे के सहकार से रचते हैं, योगक्षेम की प्रवृत्तियाँ जैसी कि खेती-कृषि और पशुपालन एक दूसरे के सहयोग से करते हैं और शिकार भी सामूहिक ढंग से करते हैं। शत्रु और आपातकालीन परिस्थितियों का सामना भी सामूहिक रूप में करते हैं। आदिवासी समाज में समान जीवनरीति वाले अनेक गोत्र होते हैं। इन गोत्रों में सहयोग की भावना प्रबल होती है। अतः अन्य गोत्र के लोगों के हमले के समय समान गोत्र के सदस्य सामूहिक रूप में प्रतिकार करते हैं और एक दूसरे का रक्षण करते हैं।

ये सजातीय गोत्रवाला लोकसमुदाय सामाजिक-धार्मिक पर्व-प्रसंग, धार्मिक अनुष्ठान और सामाजिक विधि-विधान, देव-देवी पूजा, पूर्वजपूजा और वृक्षपूजा सामूहिक रूप से सहभागी होकर करते हैं। पर्व-प्रसंगों के साथ जुड़े गीत-नृत्य समूह में गाते हैं और करते हैं। आदिवासी जीवन की प्रत्येक सामाजिक-धार्मिक प्रवृत्तियाँ और क्रियाकलापों में आबाल-वृद्ध स्त्री-पुरुषों का सहयोग और साजेदारी अभिन्न होती है।

आदिवासी लोकजीवन में सामाजिक-आर्थिक ऊँच-नीच के स्तर नहीं होते। यह समानता और समतावादी समाज है। अपनी जाति में ही बर्हिगोत्र विवाह प्रथा अस्तित्व में होने से आदिवासी समाज में एकता बनी रहती है।

एक निश्चित भूभाग में बसते, एक ही भाषा-बोली बोलते, सुरक्षा के लिए संगठित रहते, स्वतंत्र अर्थव्यवस्था और समान भावनावाले, स्वायत्त समाज और विशिष्ट संस्कृति वाले इस सरल समुदाय में पूर्वज या वंश का प्रभुत्व धीरे धीरे बढ़ता जाता होने से आज तो आदिवासी समाज

में पुरुषसत्ताक परिवार व्यवस्था अस्तित्व में आई है। फिर भी भील समाज में स्त्री-पुरुष की सहभागिता अखंड बनी रही है। अतः पुरुष के अहं से स्त्री के व्यक्तित्व का हनन नहीं हुआ है।

भील समाज में मातृसत्ताक परिवार के अंश

भील आदिवासी सांप्रत समाज पितृसत्ताक, पितृवंशी और पितृस्थानी होते हुए भी स्त्री का स्थान ऊँचा है। पुत्रीजन्म के अवसर पर पुत्रजन्म समान ही खुशी व्यक्त करने के लिए झालर और ढोल बजाकर नृत्य किया जाता है और परिवार में गुड़ बाँटा जाता है।

भील परिवार में बिना लिंग भेद ही कन्या का लालन-पालन किया जाता है। समाज में 'कन्या शुल्क' की प्रथा होने से बहुत से प्रसंगों में कन्या को अधिक स्नेह दिया जाता है।

विवाह के अवसर पर कन्या के पिता को दिया जाता 'कन्याशुल्क' न हो तो पति को ससुरगृह जाकर कृषि का काम करना पड़ता है। 'कन्याशुल्क' के बराबर मजदूरी हो जाने के बाद ही पिता अपनी पुत्री का विवाह दुलहे के साथ रचाता है।

प्रत्येक सामाजिक विधि में स्त्री, पुरुष के समान ही सहभागी होती है। पुत्री या पुत्र की मंगनी माता की संमति बिना तय नहीं होती। विवाह के अवसर पर माता के 'सामैये' (परछाने) के बिना विवाह संपन्न नहीं होता। पितृगृह से प्राप्त भेंट पर स्त्री का अधिकार होता है।

भील आदिवासियों में बहुपत्नीत्व की प्रथा अस्तित्व में होने से पत्नियों के मुताबिक जमीन-जायदाद बाँटी जाती है। सामाजिक सम्मान की दृष्टि से पति के लिए पत्नी कीर्ति है, आबरू है।

सम्बन्ध विच्छेद के बाद भी स्त्री बच्चों की देख-भाल करने के लिए पुराने पति के घर भी आती-जाती रहती है। नया पति उसका विरोध नहीं करता।

विधवा हो जाने के बाद भी भील स्त्री अपने मूल पति के घर दूसरा पति ला सकती है और सामाजिक-आर्थिक अधिकार प्राप्त करके घर की स्वामिनी बन सकती है। नये पति को यौन संबंध स्थापित करने और संतानों को पालने के अलावा कोई विशेष अधिकार प्राप्त नहीं होता। महामार्गी धार्मिक पाट के अनुष्ठान में स्त्री गुरु के स्थान पर होती है। सभा को उसका आदेश स्वीकार्य होता है।

धार्मिक-सामाजिक पर्व-प्रसंगों और विधि-विधानों में स्त्री और पुरुष का सहयोग दर्शनीय होता है।

उत्तर गुजरात के भील आदिवासी सांप्रत समाज में पितृवंशी, पितृसत्ताक और पितृस्थानी परिवार व्यवस्था अस्तित्व में होते हुए भी ग्राम और नगरीय समाजों की स्त्री की तुलना में आदिवासी स्त्री अधिक स्वतंत्र है। वह नागरिक (शिष्ट) एवं-ग्रामीण पितृसत्ताक समाज की तरह कृत्रिम सामाजिक बंधनों से लदी हुई नहीं है। भील समाज में प्रचलित ऐसी मातृसत्ताक जीवनरीतियों का प्रभाव उनके जीवनदर्शन, धार्मिक अनुष्ठान, विधि-विधान एवं लोकसाहित्य पर भी पड़ा है।

निसर्ग समाज

आदिवासी निसर्ग समाज में सिर्फ मनुष्य अकेला ही नहीं बसता है। उस में प्रकृति, पशु,

पक्षी इत्यादि मूचर, जलचर एवं खेचर सृष्टि भी शामिल है; सहभागी एवं सहपंथी है। उन आदिवासियों के लिए वह भी 'लोक' है एवं वह भी सहजीवन जीती है। आदिवासी लोक-परंपरा पृथ्वी-प्रकृति को जीवन से निरपेक्ष नहीं मानती। अतः प्रकृति और स्वयं के देह को आधार देती पृथ्वी की ओर उसके मानस में आरंभ से पूज्य भाव जाग्रत हुआ है। जिन से जीवन बना है, वे प्रकृति-तत्त्वों-पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि और आकाश का गौरव करना एवं उनकी ओर कृतज्ञता और पूज्य भाव दर्शाना वह धर्मदर्शन-जीवनदर्शन भील आदिवासी निसर्ग समाज का है।

लोकतत्त्व

इस तरह निश्चित ऐसे जीवन-दृष्टिकोण एवं सांस्कृतिक परिवेश के छत्र में जो मानव-समुदाय है, उसके आंतर को - लोकमानस को निर्माण करनेवाला-बाँधनेवाला एवं स्पर्श करनेवाला जो तत्त्व है, वह लोकतत्त्व है। उसको परिभाषा में बाँध नहीं सकते। किन्तु, उसके मर्म को समझ सकते हैं। इस लोकतत्त्व का लोकमानस में से प्रगट होता वैविध्यसभर स्वरूप वह लोकविद्या और उसका एक शाब्दिक प्रकार, वह लोकसाहित्य है।

लोकविद्याकीय प्रक्रिया

मानव जन्म लेता है उसके पहले लोकविद्या का अस्तित्व होता है। वह सभान होता है उसके साथ ही Folkloric Process (लोकविद्याकीय प्रक्रिया) का आरंभ होता है। बालक के माता-पिता, कुटुंब-कुल, गोत्र, गली-महोला, पाठशाला, विद्यालय, महाविद्यालय, समाज-समाज का जीवनदर्शन-धर्मदर्शन, श्रद्धा-आस्था, मान्यताएँ आदि मूर्त-अमूर्त बाबतें उसके मन-मानस को प्रभावित करती हैं। यह लोकविद्याकीय प्रक्रिया उसे समाज का रूढ़ सदस्य बनाती है। इस तरह समाज की लोकविद्या बालक को उस समाज का सदस्य बनाने में प्रमुख योगदान देती है।

आदिवासी लोकविद्या के अंतर्गत लोक से उदभूत सब व्यवहार आते हैं। इस में सामाजिक संस्कार, धार्मिक अनुष्ठान, अनुष्ठान संलग्न विधि-विधान, मंत्र, कथा, पुराकथा, गीत, कथागीत, गीतकथा, संगीत-नृत्य-नाट्य, नाट्य के अनुरूप वेशभूषा, उत्सव के अनुरूप वस्त्र-अलंकार, सामाजिक अस्मिता जगानेवाले लोकाख्यान-लोकमहाकाव्य, जीवन के अनुभवों से आविर्भूत कहावतें, सूक्तियाँ, रूढ़ि-प्रयोगों, लोकश्रद्धा-लोकआस्था, इन समग्र लोकविद्या को जन्म देनेवाली लोकमान्यताएँ - ये सब मूर्त-अमूर्त बातें समाविष्ट हैं। और सब में परस्पर संगति है। आदिवासी लोकविद्या लोक-साधारण की होती है। इस में लोकजीवन की सहज भावाभिव्यक्ति होती है। इस में लोकजीवन के आनंद एवं व्यथा की कथा निहित होती है।

लोकविद्याशास्त्र-लोकसाहित्यशास्त्र

किसी भी समाज के लोकजीवन का शास्त्रीय अध्ययन लोकविद्याशास्त्र (लोकवार्ताशास्त्र-Folkloristics) एवं लोकसाहित्यशास्त्र का विषय है। साधारण लोक की जीवन जीने की रीति-रहन-सहन, बोल-चाल, चर्या, आचरण, मौखिक परंपरा, आंगिक परंपरा का अध्ययन

करके स्वरूप एवं सिद्धान्त स्पष्ट करने का और स्थापित करने का काम लोकविद्याशास्त्र एवं लोकसाहित्यशास्त्र करता है।

लोकविद्या (Folklore - लोकवार्ता) का एक बड़ा हिस्सा वाचिक एवं शब्द प्रधान है। यह लोकसाहित्य है। लोकसाहित्य का सरल अर्थ-‘लोक’ की मुख-परंपरा से प्रगट साहित्य, वह लोकसाहित्य है। और उसका विषय-वस्तु, अंगों, घटकों आदि की जिस में चर्चा की जाती है एवं उसके संलग्न पद्धतियों (विधियों) से अध्ययन करके सिद्धान्त तय करता है वह शास्त्र ‘लोकसाहित्यशास्त्र’ या ‘लोकसाहित्यविज्ञान’ है।

भील आदिवासी समाज में ‘लोक एवं ‘शास्त्र’ दो भिन्न परंपराएँ नहीं हैं। किन्तु एक अतूट परंपरा है। दोनों एक-दूसरे में ओतप्रोत होते हैं। शास्त्र लोक के लिए, लोक का आधार लेकर निर्मित होता है। नृत्य, संगीत, साहित्य, स्थापत्य ये सब ललितकलाओं का आदि स्रोत ‘लोक’ ही है। इन कलाओं को ‘लोक’ से ही जीवन मिलता है। लोक की कला जब अनुशासित होती है तब नियमों का निर्माण होता है और शास्त्रीयता का विकास होता है।

भिन्न जीवन-मूल्य-जीवनदर्शन

भौगोलिक पर्यावरण, समाज एवं जीवन और जगत को देखने का दृष्टिकोण अलग होने से आदिवासी समाज ग्रामीण और नगर समाज से अनेक बाबतों में भिन्न है। अतः भील आदिवासी समाज के बहुत-कुछ नीति नियमों, जीवनमूल्यों, जीवनदर्शन, धर्मदर्शन, सौंदर्यबोध, लोकविद्या-लोकसाहित्य इत्यादि भिन्न होते हैं।

समाज की दृष्टि से सोचे तो भी अन्य समाज में किसी की हत्या करना क्रूर एवं पाशवी कृत्य है। जब कि भील आदिवासी समाज में गोत्र के किसी व्यक्ति की हत्या का बदला लेने के लिए अन्य गोत्र के निर्दोष व्यक्ति को मारना भी धर्म एवं-पुण्य का कार्य माना जाता है। तब ही एक दूसरे के गोत्र के सदस्य का रक्षण हो सकता है।

ग्रामीण एवं नगरीय समाज में विवाह से पहले यौन संबंध स्थापित करना व्यभिचार एवं अनैतिक कृत्य माना जाता है। जब कि भील आदिवासियों में विवाह से पहले जातीय संबंध बाँधना समाज स्वीकृत जीवन-रीति है। ऐसी बहुत सी सामाजिक जीवन-रीतियाँ अन्य समाज से भिन्न हैं।

भिन्न सौंदर्यबोध

भौगोलिक पर्यावरण एवं समाज जीवन की भिन्नता के कारण उन में से उद्भूत सौंदर्यबोध एवं गीत-संगीत, नाट्य, लोककथा, पुराकथा, लोकाख्यान, लोकमहाकाव्य जैसी ललितकलाओं में भी भिन्नता के दर्शन होते हैं।

सौंदर्यबोध की दृष्टि से सोचे तो भी मिश्र आहारी होने से भील समाज के व्यक्ति के लिए हिरन एवं खरगोश खुराक है जब कि अन्य समाज के वनस्पति आहारी व्यक्ति के लिए ये प्राणी विस्मय एवं आनंद से निरखने के लिए होते हैं। दोनों का प्राणियों को देखने का दृष्टिकोण भी

भिन्न है। एक का भाव क्रोध एवं क्रूरता का है। तो दूसरे का भाव विस्मय एवं आनंद का है। एक स्थूल एवं भौतिक देह को प्राप्त करना चाहता है जब कि दूसरा मूर्त सौंदर्य को दूर से आत्मसात् करना चाहता है।

स्थानिक स्वरूपों के स्थानिक नाम

लोकसंस्कृति की एक प्रमुख शाखा के रूप में लोकविद्या और उसकी भिन्न भिन्न प्रशाखाओं के रूप में लोकसाहित्य, लोकसंगीत, लोकनाट्य, लोकनृत्य, लोककला, लोकमान्यता इत्यादि तथा लोकसाहित्य के भिन्न भिन्न प्रकार-स्वरूप-जाति-लोकगीत, गीतकथा, कथागीत, लोककथा, लोकमहाकाव्य इत्यादि शब्द-समूह लोकजीवन और उसके विविध स्वरूपों का शास्त्रीय अध्ययन करने के लिए पश्चिम से प्रविष्ट होकर भारतीय लोकविद्या-लोकसाहित्य क्षेत्र में स्वीकृत होकर स्थिर हुए हैं। उसका प्रमुख कारण इस विद्याशाखा लोकविद्या का शास्त्रीय अध्ययन का आरंभ सबसे पहले पश्चिम में हुआ था। 'लोक'-लोक की मौखिक परंपरा और उसके विविध स्वरूपों को समझने में पश्चिम के ये तैयार नामकरण उपयोगी भी हुए हैं। किन्तु, प्रत्येक प्रदेश के इन स्थानिक स्वरूपों के स्थानिक नाम हैं। अग्रताक्रम देकर आरंभ में इन स्वरूपों को उनके सामाजिक संदर्भ में समझने चाहिए। 'लोक' में प्रचलित स्वरूपों के स्थानिक अर्थ को भी ध्यान में रखने चाहिए। जैसे कि खेड़ब्रह्मा-दांता तहसील में बसे भील समाज के ऋतुचक्र एवं जीवनचक्र के मुताबिक आते पर्व-प्रसंगों पर गाए जाते और कहे जाते लोकस्वरूपों 'अरेलो', 'भजनवारता', 'वतांमणां गीतां', 'हगनां गीतां', ओळियो(होली)नां गीतां, दिवालीनां गीतां इत्यादि स्थानिक एवं परंपरित नामाभिधान हैं। उनके स्वरूप की चर्चा, अध्ययन एवं वर्गीकरण करते समय भील 'लोक' में प्रचलित नाम कायम रखने चाहिए और समाज जीवन के संदर्भ में लोक के अभिप्रेत अर्थ में लोकस्वरूपों को समझने चाहिए।

उदाहरण स्वरूप गुजराती लोकसाहित्य की प्रमुख धारा में जिसको 'लोकगीत' कहते हैं उसे भील समाज 'गीतां' कहता है। दैनिक व्यवहार की बोली-भाषा में गीत का बहुवचन 'गीतां' कहा जाता है। उसका प्रमुख कारण भील समाज में निजानंद के लिए या समाज से बाहर के अन्य व्यक्ति के आनंद या प्रयोजन के लिए 'एकल-दोकल' गीत गाया नहीं जाता, लोकवाद्य बजाया नहीं जाता और नृत्य भी नहीं किया जाता। गीत समूह में लोक के सामाजिक-धार्मिक प्रयोजन अथवा समूह में आनंद के लिए गाए जाते हैं। उसका आरंभ चाहे एक व्यक्ति के द्वारा होता हो, किन्तु समाज के आवश्यक संघोर्मि के रूप में प्रगटता है। ऐसे गीत ऋतुचक्र के मुताबिक आते पर्व-प्रसंग के वातावरण में सारे दिन या पूरी रात अनेक संख्या में गाए जाते हैं। अतः भील समाज उनको बहुवचन में 'गीतां' कहता है और भील समाज की मौखिक परंपरा में 'गीतां' नामकरण रूढ़ हुआ है। बिना पर्व-प्रसंग गीतां गाने की प्रथा भील समाज में नहीं है।

लोकसाहित्य की प्रस्तुति के सामाजिक नियम

भील गीतां की दूसरी विशेषता या लक्षण यह है कि प्रत्येक पर्व-प्रसंग में गाए जाते गीत

का स्वरूप और उसके संलग्न वाद्य परंपरा में नियत होता है। मेले में ढोल संलग्न 'गोठिया' (प्रणय-गीत) के गीत गाने का रिवाज है। इस सामाजिक प्रसंग पर सांग नामक तालचर्मवाद्य संलग्न धार्मिक गीत गाने का निषेध है। अगर कोई व्यक्ति इस नियम का भंग करता है तो समाज के कोप और दंड का भोग बनता है।

मौखिक साहित्य की प्रस्तुति के समय गायक-वाहकों को प्रसंग अनुसार कितने ही सामाजिक नियमों का पालन करना पड़ता है। मेले में गाए जाते गीतों का विषय सामाजिक होता है। ऐसे गीतों का उद्देश्य सामूहिक आनंद प्राप्त करना होता है। अतः एक गायक का गीत काटके दूसरा गायक नये गीत का आरंभ कर सकता है। जब कि दिवाली के पर्व पर गाए जाते अरेला (लोकमहाकाव्य से मिलता-झूलता भील लोकसाहित्य का एक प्रकार) का विषय धार्मिक होता है। श्रोता-दर्शक-सहभागी रागिये धार्मिक आस्था से प्रभावित होते हैं। ऐसे समय दूसरा वाहक-गायक नये अरेला का प्रारंभ करेगा तो पहले गाये जा रहे अरेले में आते देवी-देवता के गौरव एवं महिमा को क्षति पहुँचती है और उनका अपमान होता है, वैसा बहुजन समाज मानता है। अतः दूसरा गायक पहले गाए जा रहे अरेला के प्रसंग को काटकर नया अरेला गा नहीं सकता। इस तरह सामाजिक-धार्मिक पर्व-प्रसंगों के अनुसार गाए जाते गीत और मौखिक साहित्य का स्वरूप, विषय के अनुसार उसका नामकरण तथा उसके संलग्न वाद्य एवं नृत्य परंपरा से नियत-निश्चित होते हैं। अतः उनके स्वरूप को समझते समय तथा विषय के अनुसार वर्गीकरण करते समय समाज के अभिप्रेत सामाजिक-धार्मिक बाबतें ध्यान में रखनी चाहिए।

समाज के संदर्भ में 'लोक' का अर्थ

लिखित साहित्य से भिन्नता दर्शाने के लिए और उसके स्वरूप को समझने के लिए अन्य मौखिक परंपरा के प्रत्येक साहित्य स्वरूप के आगे 'लोक' शब्द प्रयुक्त होता है। किंतु भील समाज 'लोक' शब्द अन्य ग्राम एवं नगर के लोगों के लिए प्रयोज्य है और तिरस्कार व्यक्त करने के लिए व्यंग्य में 'लोकां' कहता है। अतः भील गीत अथवा उसके अन्य मौखिक स्वरूप के आगे 'लोक' प्रयोजना उनके सामाजिक संदर्भ में सर्वथा अयोग्य है। अतः अन्य समाज के अध्येता को समझने और अध्ययन करने के लिए भील लोकगीत के लिए बहुवचन में 'भील गीतां', 'भीलोनां गीतो', 'भील समाजनां गीतो' या 'भीलोनां गीतां' शब्दसमूह प्रयुक्त करना योग्य रहेगा।

गेय तत्त्व भीलों के गीतों का प्रमुख आधिकारिक लक्षण है। किन्तु गेयता की अनुभूति के लिए भील समाज के अपने स्वयं के खयाल हैं। तीव्र-मीठे-मधुर स्वर उनको प्रिय नहीं हैं। मुख्य गायक के तीव्र स्वर सहायक गायक एवं श्रोताओं को पसंद नहीं आते। वे गाते गाते और सुनते सुनते ऊब जाते हैं। उनको गाने-सुनने में आनंद नहीं आता। वे मुख्य गायक को बीच में रोकते हुए कहते हैं, 'झाड़ा भारी रागे गाक'ला (गाक'ली) मेघ ओझ झेंणो झेंणो धधम ! (भारी राग में गा। मेघ की तरह धीमे धीमे गरज !) समाज में गीत प्रवीण गायक के लिए 'हाकरियां

गीतोनो गितारियो पाई या हाकरियां गीतांनी गीतारी बाई (मिश्री जैसे मीठे गीतों को गानेवाला भाई या बहन) कहा जाता है। तब उनके मन में मेघ, नगाड़ा या ढोल जैसे घोर-गंभीर स्वर अभिप्रेत हैं। जो उनको प्रकृति से प्राप्त हुए हैं।

आदिवासी लोकविद्या का उद्भव स्थान: प्रकृति का प्रांगण

आरंभ से ही जंगल आधारित जीवन होने से प्रकृति के साथ अनुकूलन साधने और जीवन चलाने के लिए वन्य जीवों के साथ हुए अनुभवों से आविर्भूत जीवनरीतियों में से भील आदिवासी समाज की कितनी ही विशिष्ट लोकविद्याएँ विकसित हुई हैं।

पूर्वकालीन आदिवासी समाज की जीवनयापन चलाने की शिकारी जीवन-रीति और उस पर पड़े प्रकृति के कोमल-कराल रूपों का प्रभाव तथा उसको अभिव्यक्त करने की रीतियों में से आज के आदिवासी समाज के संगीत-वाद्य-नृत्य-नृत्त (मूक अभिनय) की लोकविद्या का उद्भव और विकास हुआ है। प्रकृति और सजीव सृष्टि से आदिवासी मानव को जो विविध नाद-ध्वनि-लय प्राप्त हुए एवं कंठ में अनुकरण से और आत्म-सूझ से सिद्ध किए तथा उनको ज्यादा मीठे एवं प्रभावी बनाने के लिए उसने वाद्यों का सृजन किया। ये वाद्य उसने कुदरत से प्राप्त चीज-वस्तुओं में से निर्मित किए हैं। ये वाद्य आदिवासी समाज अपनी परंपरित लोकविद्या या लोकज्ञान के आधार पर बनाता है।

आदिवासी संगीत का सीधा संबंध नृत्य के साथ है। लय गीत-संगीत-वाद्य-नृत्य का प्राणभूत तत्त्व है। अतः नृत्य में ताल की परम आवश्यकता होती है। गीत-संगीत में आवश्यक स्वर तो कंठ से भी प्रगट हो सकते हैं, परंतु ताल के बिना नृत्य में हुमक नहीं आ सकती।

आदिवासी कथा स्वरूपों की भिन्नता

भील आदिवासी समाज के नाटक का उद्भव नृत्य से हुआ है, उसका प्रमाण उनका 'नोरता' नाम का धार्मिक उत्सव देता है। आसो सुद एकम से लिया जाता नोरता 'नवलाख देवियों' की पुराकथा (मिथ) का नृत्य-नाट्य रूपान्तर है।

नोरता का उत्सव सिर्फ दर्शकों के सामने प्रदर्शित करने का नृत्य-नाट्य रूप ही नहीं है, परंतु गाँव के मनुष्यों और पालतू पशुओं में से आधि-व्याधि-उपाधि जैसी बीमारियाँ दूर करने का धार्मिक अनुष्ठान है। अतः वह ग्रामीण लोकनाट्य और प्रशिष्ट नाटक से अलग पड़ता है।

उसका स्वरूप समाज में प्रचलित नवलाख देवियों की पुराकथा और भूत-प्रेत, टोने-टोटके जैसी मैली विद्या में विश्वास तथा मूठ-चोट के 'मारण-वारण' से आविर्भूत हुआ है। नोरता को वहन करनेवाला और उसका रूप लेनेवाला समाज का एक विशेष वर्ग भोपा (ओझा) होते हैं। वे शुद्ध और मैली विद्या के ज्ञाता होते हैं। समाज न जानता हो ऐसा गृह्य ज्ञान या विद्या वे गुरु-परंपरा से प्राप्त कर लेते हैं। उसका उपयोग समाज के विविध प्रकार के धार्मिक मनुष्ठानों को संपन्न करने में करते हैं।

'कथा' शब्द संस्कृत के कथ् (कहना) धातु से बना है। हम जिसे 'लोककथा' (फोकटेल) के

नाम से पहचानते हैं, उसे भील समाजकौणी कहता है। वह गुजराती 'कहेणी' शब्द का परिवर्तित रूप है, जो कथन करने का सूचन करता है। यह 'कहेणी' ही भीली 'कौणी' के कलामय स्वरूप को बाँधती है। दूसरे मौखिक साहित्य के स्वरूपों की तरह कौणी भी वाणी की कला है। अतः श्रोता कथन की कला और वाणी से प्रभावित होते हैं तब कथक (कथावाचक) की वाणी का गौरव करने के लिए बीच बीच में आश्चर्य-आनंद से पुकारते हैं, 'ए वाणी ! वाह !' अतः कथक को कौणी कहने का आनंद आता है और कथा आगे कहने का शूर चढ़ता है।

गद्य में कहे जाते कथा के लघु स्वरूप को भील वाहक या कथावाचक कौणी कहते हैं, जब कि दीर्घ कथा स्वरूप को 'वात' कहते हैं। वात सुदीर्घ हो तो बीच-बीच में गीत भी आते हैं। गीत श्रोताओं को वात में ज्यादा रसनिमग्न करते हैं और कथक को स्मृति सतेज करने में सहायक होते हैं।

कौणी या वात की वाणी धर्माश्रयी नहीं होती। कौणी या वात वर्तमान में भी कोई चमत्कृत करे या आनंद दे या जिज्ञासा संतृष्ट करे ऐसे प्रसंग-घटना बनते हैं तब सर्जित होती है। अतः घटना-प्रसंग में से कौणी बनने की प्रक्रिया में प्रत्येक कथा-वाचक की कहने की रीति का स्वरूप बदलता रहता है। बहुत मुखों से गुजरती है तब बहु-स्वरूप धरती है।

विषय की दृष्टि से भील समाज के मौखिक साहित्य को दो बड़े विभागों में विभाजित कर सकते हैं: सामाजिक साहित्य और धार्मिक साहित्य। धार्मिक साहित्य ऋतुचक्र के मुताबिक आते पर्व-प्रसंग, जैसे कि होली, गोर, दिवाली, धूला का पाट (महामार्गी पाट), काँबरिया ठाकुर का पाट इत्यादि के संलग्न होता है। सामाजिक साहित्य जीवनचक्र के अनुसार आते जन्म, लग्न, मृत्यु जैसे सामाजिक प्रसंगों के संलग्न होता है। भील आदिवासी लोकख्यान-लोकमहाकाव्य खास करके ऋतुचक्र के मुताबिक आते उत्सवों के संलग्न होते हैं। ऐसे लोकाख्यान-लोकमहाकाव्य भील समाज में 'वारता' के नाम से प्रचलित हैं।

भीली मौखिक साहित्य में 'कथा' शब्द प्रचलित नहीं है किन्तु 'वारता' शब्द प्रचलित है। भील समाज में आख्यान या महाकाव्य जैसे मध्यम या दीर्घ संगीत प्रधान पद्य-गद्य-मिश्रित वारताएँ प्रचलित हैं। ऐसी वारताएँ स्वर तंतुवाद्य तंबूर या ताल चर्मवाद्य 'सांग' के द्वारा वैदिकयुग के ऐतिहासिक या पौराणिकों की तरह भील साधु और ओझा शुद्ध एवं अशुद्ध (अशुद्ध अनुष्ठान में पशु का बलि चढ़ाया जाता है) धार्मिक अनुष्ठानों के समय गाते हैं।

मौखिक महाकाव्य (दीर्घ वारता) के स्वरूप में दो-चार पीढ़ियों के प्रसंग-घटना की अनेक पँखुड़ियाँ होती हैं, जो कथावाचक या गायक के गेय कथन द्वारा भिन्न भिन्न चरित्रों का विकास करती हुई और अनुष्ठानों के सांनिध्य में धार्मिक आस्था से प्रभावित श्रोता-दर्शकों को रसानंद देती हुई विकसित होती हैं तथा प्राचीन एवं वर्तमान समाज के रीति-रिवाज, विधि-विधानों, धार्मिक आस्थाएँ और सामाजिक परम्परित विश्वासों को प्रस्तुत करके समाज के वर्तमान लोकजीवन को सक्रिय करती हैं। अतः ऐसे समग्र जीवन को लेकर चलते स्वरूप के लिए 'लोकमहाकाव्य' या

‘मौखिक महाकाव्य’ नामाभिधान योग्य है। भील संस्कृति-समाज-साहित्य के संदर्भ में सोचते हैं तब दीर्घ मौखिक परंपरा में प्रचलित ऐसे स्वरूप के लिए ‘दीर्घ भजनवारता’ या ‘दीर्घ वार्ता’ नामकरण भी सार्थक है।

जब कि मध्यम कद के धर्ममूलक वारता स्वरूप में व्यक्तिजीवन के महत्त्व के प्रसंग या घटना की मर्यादित पँखुड़ियाँ होती हैं जो गायक, कथा-वाचक के गेय कथन द्वारा खास खास जीवन अंशों को विकसित करती हुई शुद्ध-अशुद्ध धार्मिक अनुष्ठानों के सांनिध्य में धार्मिक आस्था से प्रभावित श्रोता-दर्शकों को रसानंद देती विकसित होती हैं। ऐसे मध्यम कद के लोकाख्यान (वारता) स्वरूप में घटना-प्रसंगों का कार्यवेग त्वरित होता है। व्याप की दृष्टि से मध्यम स्वरूप में लोकमहाकाव्य या लिखित प्रशिष्ट महाकाव्य में होता है वैसा विवाह, राजकचहरी, आक्रमण, युद्ध, जलाशय इत्यादि का वर्णन करने का समय कथावाचक या गायक को होता नहीं। मौखिक महाकाव्य में कथावाचक या गायक प्रत्येक प्रसंग-घटना की पँखुड़ियों को विस्तार से कथता हुआ आगे बढ़ता है। आरंभ में श्रोता-दर्शकों की जिज्ञासा जगाके मूल विषय पर लाने के लिए मनोरंजक बातें (टोळाकां-बात) भी कहता है। ऐसा समय मध्यम कद स्वरूप लोकाख्यान के गायक या आख्यान-वाचक को नहीं होता। वह अपनी गेय पद्य एवं रागात्मक गद्य कथनकला का उपयोग वारता के चरित्रों के जीवन के महत्त्व के अंशों को कथने में करता है। अतः आख्यान-वाचक आरंभ में गणपति एवं शारदा के स्मरण के बाद सीधा मौखिक आख्यान के मुख्य विषय पर आता है। जब कि मौखिक महाकाव्य में मुख्य गायक सहभागी ‘हुँकारसी’ एवं रागियों को उत्साहित करने और दर्शक श्रोताओं को मूल लोकाख्यान में रसनिमग्न करने के लिए अवान्तर कथा भी कहता है। सुदीर्घ स्वरूप होने से महाकाव्य अनेक दिन तक गाया जाता है जब कि मध्यम कद के संगीत प्रधान लोकाख्यान (वारता) धूला के पाट के प्रसंग पर या कौबरिया ठाकुर के पाट के पर्व पर गाए जाते हैं। ऐसे लोकाख्यान शुद्ध - अशुद्ध धार्मिक अनुष्ठानों को लक्ष्य में रखकर एक रात के लिए गाए जाते हैं। अतः धार्मिक अनुष्ठान के पोषक प्रसंग के अनुसार मौखिक रूप मध्यम कद स्वरूप ही धारण कर सकता है। अतः धर्माश्रयी ऐसे वारतामूलक संगीत प्रधान स्वरूप के लिए ‘लोकाख्यान’ या ‘मौखिक आख्यान’ नामाभिधान योग्य है। भील समाज में ऐसे स्वरूप के लिए ‘टूकी भज नवारता’ (छोटी भजनवारता), या ‘टूकी वारता’ (छोटी वारता) नामकरण प्रचलित है। भील समाज जीवन के संदर्भ में ये सहज रूढ़ हुए नामकरण भी कायम रखकर उसके स्वरूप के बारे में सोचना चाहिए। भील समाज में ‘रूपारोणीनी वारता’, ‘तोळीरोणीनी वारता’, ‘देवरानी वारता’, ‘कौबरिया ठाकुरनी वारता’ इत्यादि तथा दिवाली के पर्व-प्रसंग पर गाए जाते ‘नवलाख देवीओनो अरेलो’, ‘करमीरानो अरेलो’ इत्यादि ऐसे लोकाख्यान हैं।

पश्चिम की संशोधन पद्धतियाँ

आरंभ में लोकसाहित्य के एक प्रकार लोककथा के लोकतात्त्विक अध्ययन से पश्चिम में

संशोधन-पद्धतियों का विकास हुआ है।

डा. हरद्वारी लाल शर्मा लोकवार्ता-विज्ञान (अध्याय सोलह) में लोककथा की संशोधन पद्धतियों (शोध-विधियों)को पाँच वर्गों में विभाजित करते हैं।

पहली विश्लेषण प्रधान **Analytic** पद्धति है। इस पद्धति में लोककथा के कथाघटक-मोटिफ, कथाबिंब-स्टोरी-टाइप, प्रकार इत्यादि विश्लेषण से प्राप्त होते हैं।

दूसरी पद्धति गठन **Structure** (कलेवर) को महत्त्व देती है। एलन डंडीझ इस पद्धति के संशोधक हैं। वे अपनी संशोधन पद्धति को **Structural Method** कहते हैं। डंडीझ लोककथा को उसके छोटे छोटे अवयवों में विश्लेषण करते हैं।

तीसरी संशोधन पद्धति रूपवादी **Morphological** है; जिसके शोधक रसियन लोकविद्याविद व्लादिमीर प्रोप हैं। उन्होंने परीकथाओं को उनके अवयवों में विभाजित करके, अवयवों के परस्पर संबंध को स्पष्ट किया एवं अवयवों का संपूर्ण कथा के कलेवर में स्थान, महत्त्व, आदि का विवेचन किया।

चौथी संशोधन पद्धति प्रकार्यवादी-**Functional** है। यह पद्धति कार्य-रूप-**Functions** का विवेचन करती है जहाँ से कथा के अनेक सूत्र मिलते हैं। प्रकार्यवादी संशोधन पद्धति के संशोधक रिचार्ड एम. डोर्सन हैं।

पाँचवीं संशोधन पद्धति लोक-तात्त्विक या लोकविद्या का दृष्टिकोण है। हम लोककथा के अध्ययन में कथा की समग्रता एवं संपूर्णता को ऐसे अवयवों में नहीं अलग करते जिनसे फिर से तोड़ने की अपेक्षा हो, और साथ ही, जोड़ना कठिन हो। लोककथा किसी भी कलात्मक सृजन की तरह, अवयवों के जोड़-तोड़ से पैदा नहीं होती। वह संपूर्ण रूप में सृजक के मानस से पैदा होती है। अनेक परिवर्तनों और विकास के बाद भी संपूर्ण बनी रहती है। क्यों कि वह 'मानस की मूल-भावना' को ही अभिव्यक्त करती है। विश्लेषण द्वारा मूल-भावना को खंडों में विभाजित करना न उचित है, न संभव ही, जैसे धारा को लहरों में विभाजित करना। इस पद्धति के निम्नांकित चरण हो सकते हैं : (१) कथा-रूप का निर्धारण और निरूपण (२) पात्र और चरित्र (३) घटना-विकास-क्रम या घटना-क्रम-विकास (४) शिखर बिंदु (५) पूर्ति और परिणति।

आदिवासी लोकसाहित्यशास्त्र (उत्तर गुजरात के भील आदिवासी समाज-जीवन के संदर्भ में) निम्नांकित प्रकरणों में विभाजित है :

१. आदिवासी लोकसाहित्य की पूर्वभूमिका
२. भारतीय प्रशिष्ट साहित्य और आदिवासी लोकविद्या-लोकसाहित्य की प्राचीन पृष्ठभूमि
३. आदिवासी लोकविद्या-लोकसाहित्य के पाश्चात्य अध्ययन की पृष्ठभूमि
४. वर्तमानकालीन भील आदिवासी
५. भील आदिवासी लोकविद्या (फोकलोर)-लोकसाहित्य-लोकगीत
६. भील आदिवासी लोकसंगीत-लोकनृत्य

७. भील आदिवासी लोकनाट्य
८. भील आदिवासी लोककथा
९. भील आदिवासी लोकाख्यान
१०. भील आदिवासी लोकमहाकाव्य
११. आदिवासी लोकसाहित्य के संशोधन-संपादन की चुनौतियाँ
१२. उपसंहार एवं उपलब्धियाँ

प्रमुख उपलब्धियाँ

दो साल पहले मैंने आदिवासी लोकसाहित्यशास्त्र की रचना के लिए भारत सरकार के संस्कृति विभाग को श्री टैगोर नेशनल फेलोशिप के लिए जो प्रस्ताव भेजा था तब मेरे मानस में इस कार्य की फलश्रुति स्वरूप निम्नांकित उद्देश थे :

- भविष्य में शिक्षा के उच्च विश्वविद्यालयों (कॉलेज-यूनिवर्सिटी) में 'आदिवासी लोकसाहित्यशास्त्र' सम्मिलित करने से आदिवासी समाज के बारे में एक नये ज्ञान की दिशा खुलेगी ।
- शोधार्थियों को आदिवासी संस्कृति-समाज-साहित्य को मूलरूप में समझने-अध्ययन करने में सहायता मिलेगी ।
- वर्तमान शिक्षा प्रणाली में अपने लोकसाहित्यशास्त्र के सम्मिलन से साक्षर आदिवासी आत्मगौरव-अस्मिता प्राप्त करेंगे और जाति जाति के बीच भावात्मक एकता स्थापित होगी ।
- पिछले एक-दो दशक से दलित और नारीवादी स्वर तेज हो रहे हैं । ऐसी स्थिति में भीलों के लोकधर्मी, महामार्गी, समतावादी जीवनदर्शन से आज के दलित और नारीवादी दार्शनिक भी अपने नये जीवनमूल्य गढ़ सकेंगे । और भारतीय लोकसाहित्यशास्त्र (भारतीय मौखिक साहित्य का काव्यशास्त्र) का एक अखंड स्वरूप पूर्ण होगा ।

पुस्तक प्रगट होने पर भविष्य में ये उद्देश पूर्ण होंगे ।

अब दो वर्ष के अध्ययन एवं आदिवासी लोकसाहित्यशास्त्र की रचना के बाद जो उपलब्धियाँ सामने आई हैं वे निम्नांकित हैं :

समाजगत उपलब्धि

आदिवासी समाज के बारे में अन्य समाजों में बहुत कुछ गलतफहमियाँ हैं, जो गलत तुलना के कारण उद्भूत हुई हैं ।

किसी भी समाज को उसके भौगोलिक एवं ऐतिहासिक संदर्भ में समझे बिना अपने समाज के जीवनमूल्यों से तुलना करके अर्धसंस्कृत-असंस्कृत या अर्धविकसित-अविकसित समाज नहीं कह सकते । जिस जाति में जन्म के, विवाह के और मृत्यु के संस्कार-विधि प्रचलित हो, भौगोलिक पर्यावरण के अनुकूल रहकर जिस जातिने अपने व्यक्तिजीवन को, इसके समाजजीवन

में व्यवस्थित किया हो, इसके लिए परंपराएँ विकसित की हो, जीवनमूल्य तय किए हो उसको असंस्कृत या अर्धसंस्कृत समाज कह नहीं सकते। प्रत्येक समाज अपने भौगोलिक ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में अपने ढंग से सभ्य, संस्कृत और विकसित होता है। इसकी तुलना सहजीवन एवं मानवतावादी गुणों से की जानी चाहिए।

उत्तर गुजरात के भील आदिवासी समाज के बारे में सोचे तो भी जो समाज जन्म से लेकर मृत्यु तक की सामाजिक और धार्मिक प्रवृत्तियाँ एक-दूसरे के सहयोग एवं सहभागिता में करता हो, विधवा स्त्री को अपने मूल पति के घर दूसरा पति लाने की अनुमति देता हो, विशेष गौरव देने के लिए स्त्री को महामार्गी धार्मिक अनुष्ठान में गुरु के स्थान पर स्थापित करता हो, वरिष्ठ व्यक्तियों को सम्मान देता हो, आर्थिक असमानता न हो, मृत पूर्वजों को भी पूज्य मानता हो, वैसे मानवतावादी-समानतावादी समाज को हम असंस्कृत या अविकसित समाज नहीं कह सकते। किंतु वैयक्तिक लक्षणोंवाला अन्य समाज इस सहभागी एवं सहभोगी आदिवासी समाज के मानवतावादी गुणों से बहुत-कुछ सीख सकता है।

लोकसाहित्यगत उपलब्धि

भील समाज की मौखिक परंपरा के बारे में सोचे तो भी 'रोम सीतमानी वारता' और 'भीलों का भारथ' में स्त्री के प्रमुख तीन स्वरूप-पुत्री, पुत्रवधू-पत्नी और माता, बिना लिंग-भेद या बिना सामाजिक-धार्मिक तथा राजकीय स्तर-भेद समान अधिकार प्राप्त करते हैं। इतना ही नहीं, दासी जैसे सामान्य स्त्री-पात्र भी राजा या रानी के व्यक्तित्व से प्रभावित नहीं हैं। यहाँ बाघ, गिलहरी, बंदर जैसे प्रकृति-तत्व भी भाई-मामा जैसे सामाजिक संबंध स्थापित करते हैं। यहाँ मानव एवं प्रकृति-जगत एक समान मानवीय भूमि पर विचरण करता है। इसका प्रमुख कारण भीलों का समानतावादी-समतावादी महामार्गी जीवनदर्शन है। जो अन्य समाज के वैयक्तिक साहित्य में दुर्लभ है।

'भीलों का भारथ' में युद्ध का केन्द्र स्त्री नहीं है; किन्तु पांडव-कौरव के बीच श्रीकृष्ण के द्वारा किया गया भूमिखंड का असमान बँटवारा है। स्त्री यहाँ जीवन के किसी भी प्रसंग या स्थान पर असहाय, लाचार या अपमानित नहीं है। वह नहीं तो पुरुष से अपमानित होकर आँसू बहाती या नहीं तो पुरुष से आतंकित होकर शाप देती या उसके विरुद्ध हृदय में वैरागि जलती रखती। 'भारथ' में राजकीय, धार्मिक और सामाजिक सत्ता कुंती-द्रौपदी जैसी कारोबार-कुशल स्त्रियों के हाथ में है। स्त्रियों यहाँ राजकीय, धार्मिक और सामाजिक व्यक्तित्व के साथ, सशक्तिकरण के साथ प्रगट होती हैं। वे भी पुरुषों को आतंकित नहीं करती किन्तु जहाँ भी पुरुष भूल करते हैं वहाँ राजकीय, सामाजिक और धार्मिक जीवन की मार्गदर्शक बनती हैं। इन अर्थों में 'भारथ' स्त्रीजीवन के अनेक स्वतंत्र स्वरूपों को प्रकट करता और स्त्री के व्यक्तित्व का गौरवगान करता भारतीय मौखिक साहित्य का विरल लोकमहाकाव्य है। और इसके परंपरित लोकधर्मी-समानतावादी-समतावादी जीवनदर्शन से आज के नारीवादी दार्शनिक भी अपने नये जीवनमूल्य गढ़ सकते हैं।

विश्वदृष्टि (वर्ल्ड-व्यू)गत उपलब्धि

विश्व-दृष्टि से सोचे तो भी जिसके आधार पर यह जीवन टिका है वह पृथ्वी को तंदुरस्त रखने का ज्ञान आदिवासी के पास है। पृथ्वी, प्रकृति एवं समाज व्यक्ति से श्रेष्ठ है वह जीवनदर्शन आदिवासी का है। पश्चिम की जीवनरिति और जीवनदर्शन के अनुसार जीवन रचनेवाले तत्त्वों—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु एवं आकाश के निर्मम नाश को ही विकास का नाम दिया जा रहा है। ऐसे विषम संजोगों में पृथ्वी-प्रकृति की रक्षा करनेवाला, आवश्यकता अनुसार ही कुदरती स्रोतों का उपयोग करनेवाला, सामाजिक स्तर-भेद बिना का समतावादी आदिवासी समाज-जीवन ही वैयक्तिक विघातक मूल्यों से धीरे हुए विश्व को वैकल्पिक जीवनरिति दे सकेगा। वैयक्तिक उपभोगवाद से त्रस्त मानवजाति आदिवासी परंपरित विद्या-ज्ञान-जीवनरिति-जीवनदर्शन का आश्रय लेकर अपने नये भाववादी समाज का निर्माण कर सकेगा। अतः अभी तो सिर्फ जीवनदायिनी आदिवासी सभ्यता ही विश्व का एक मात्र आश्वासन है !

लोकसंमत आदिवासी लोकसाहित्यशास्त्र की उपलब्धि

‘आदिवासी लोक’ अपनी विशिष्ट भूमि और पर्यावरण में भोगे हुए जीवन के अनुभवों के आधार पर समाज स्वीकृत नीति-नियमों की मर्यादा में रहकर अपनी लोकविद्या (लोकवार्ता-फोकलोर)-लोकसाहित्य का शास्त्र रचता है। जो शास्त्र मौखिक एवं परिवर्तित होता है।

आदिवासी लोकसाहित्य जीवन की समग्रता का साहित्य है। उसके केन्द्र में केवल समष्टि है। अतः शास्त्र ‘लोक’ में ओतप्रोत है।

अभी तक शास्त्र एक व्यक्ति या वैयक्तिक संप्रदाय के द्वारा रचा गया है। किन्तु लोक स्वयं शास्त्र का रचयिता होता है। अतः हमें लोकसंमत शास्त्र को प्राथमिकता देनी चाहिए और फिर आगे बढ़ना चाहिए। तब ही हम किसी भी प्रदेश के मौखिक साहित्य को समझ सकते हैं, अध्ययन कर सकते हैं और उसके मौखिक लोकसाहित्य के लक्षण-स्वरूप-सिद्धान्त तय कर सकते हैं। इस दृष्टिकोण को लक्ष्य में रखकर उत्तर गुजरात के भील आदिवासी समाज के संदर्भ में ‘आदिवासी लोकसाहित्यशास्त्र’ गुजराती भाषा में रचने का हमारा प्राथमिक प्रयत्न है।

भिन्न स्वरूप-सिद्धान्तगत उपलब्धियाँ

आदिवासी ‘लोक’ सर्व समावेशी है। अतः आदिवासी लोकसाहित्य संश्लिष्ट होता है। ऐसा साहित्य गीत, संगीत, नृत्य, नाट्य, कथा, अनुष्ठान एवं विधि-विधान संलग्न होता है। वह लोकजीवन की रसात्मक अनुभूति है। उसका विश्लेषण करने से रस-सौंदर्य बिखर जाता है। पृथक्करण से उसको समझ नहीं सकते एवं रसास्वाद भी नहीं कर सकते।

पश्चिम के लोकविद्याविदों ने विकसित की हुई मोटिफ (कथा-घटक), स्टोरी-टाइप (कथाबिंब), स्टोरी-सायकल (कथाचक्र) आदि विश्लेषण-पृथक्करण की पद्धतियाँ आदिवासी लोकसाहित्यशास्त्र की रचना में ज्यादा उपयोगी नहीं हैं।

आदिवासी लोकसाहित्य की प्रत्येक विधा को एक दूसरे के साथ आंतरसंबंध होता है एवं

लोक द्वारा संयुक्त रूप में प्रस्तुत होती हैं। अतः यह दृष्टिकोण को लक्ष्य में रखकर उनके समाज-जीवन के संदर्भ में स्वरूप-सिद्धान्तगत चर्चा करके आदिवासी लोकसाहित्यशास्त्र की रचना की गई है।

भौगोलिक पर्यावरण एवं समाज-जीवन की भिन्नता के कारण उन में से उद्भूत गायक-कथावाचक के मानस में स्थित सौंदर्यबोध, गीत, संगीत, नाट्य, लोककथा, पुराकथा, लोकाख्यान, लोकमहाकाव्य आदि लोकसाहित्य के प्रकारों के स्वरूप-सिद्धान्त एवं साधारणीकरण में भी भिन्नता के दर्शन होते हैं।

गायक-कथावाचकगत उपलब्धि

प्रशिष्ट साहित्य का वैयक्तिक सृजक अपनी अनुभूतियों से कला कृति सर्जित करता है। कृति के सृजन के बाद उस में आते पात्रों-चरित्रों को भूल जाता है। समकालीन जीवन के साथ उसका अनुबंध नहीं रहता। जब कि आदिवासी वाहक गायक-कथावाचक अपनी मौखिक कृति परंपरा से प्राप्त करता है और मानस में स्थिर करता है। यह प्राचीन मौखिक परंपरा उसके सामाजिक-धार्मिक संदर्भ के साथ चित्त में लेकर जीता है। गायक-कथावाचक का चरित्रों-पात्रों के साथ का नाता-संबंध जीवन पर्यंत रहता है। उसके लिए ऐसे दैवी चरित्र सजीव मानवों जैसे होते हैं। वाहक गायक-कथावाचक ऐसे धार्मिक चरित्रों के दुःख से दुःखी और सुख से सुखी होता है। कृति प्रस्तुत करने से ये चरित्र मूर्तरूप धारण करते हैं। और उनके जीवन में घटित करुण घटनाओं से वे दुःखी होते हैं। वे दुःखी होते हैं अतः प्रस्तुत-करता भी दुःखी होता है। अतः ऋतुचक्र के अनुसार आते आदिवासी समाज के धार्मिक-सामाजिक पर्व-प्रसंग के अलावा गायक यह कृति नहीं गाता। पर्व-प्रसंग के वातावरण में सहायक रागियों के सहयोग से उसके चित्त में स्थित कृति समाज के अभिप्रेत अर्थ में मौखिक कलात्मक स्वरूप धारण करती है।

साधारणीकरण गत उपलब्धि

बहुत बार भील मौखिक लोकाख्यानों में आते देव-देवियों के चरित्रों के साथ वाहक-गायक एवं श्रोताओं का इतनी हृद तक तादात्म्य होता है कि वे स्वयं वही देवी-देवता बन जाते हैं और उनकी देह में संबंधित देवी-देवता का भाव प्रगट होता है। अतः इकट्ठे हुए लोकसमुदाय को आशीर्वाद भी देते हैं।

संगीत के वाद्योंगत उपलब्धि

भील आदिवासी समाज में लोकवाद्य संगीत बजाने की भौतिक चीज-वस्तु नहीं है। गायक साधु के लिए स्वरवाद्य तंबूर जीवित देव जैसा होता है। अतः पर्व-प्रसंग में उपस्थित श्रोताओं की आतुरता का अनुभव करके गायक स्थानक के पास जाता है। वह सोचता है कि तंबूर सोया हुआ है। अतः स्थानक से उठाने से पहले साधु तंबूर को जगाने का मन में मंत्र बोलता है। सोये हुए तंबूर को जगाने के अपराध में क्षमा याचता है। इसके बाद तंबूर को नमन करके, मनाने के लिए उसके गौरव और महिमा का मंत्र बोलता है। तंबूर ही अपने स्वरों के माध्यम से कथा में स्थित देवी-

देवता का भावकों के मानस में साक्षात् दर्शन कराता है। प्रसंग पूर्ण होने के बाद कृतज्ञता व्यक्त करने के लिए तंबूर को पुनः स्थापित करते समय साधु श्रीफल चढ़ाता है।

लोकसाहित्य के स्वरूपों का जीवन के साथ अनुबंध

आदिवासी लोकसाहित्य लोक के संस्कृति-समाज के जीवन-मूल्यों से आविर्भूत होता है। अतः जीवन के साथ उसका प्रत्यक्ष अनुबंध होता है।

इसके पहले भी सूचित किया गया है कि शिष्ट-प्रशिष्ट साहित्य का मूल्यांकन संस्कृत के आचार्यों-नाट्यचार्यों की रसमीमांसा से करते हैं, कला के उपकरणों से करते हैं, समकालीन विवेचन के मापदंडों से करते हैं, कला के उपकरणों से करते हैं। ऐसे साहित्य का विवेचन हो सकता है, जब कि लोकसाहित्य लोक के संस्कृति-समाज के जीवन-मूल्यों में से आविर्भूत होता है। ऐसे साहित्य का समकालीन कला या विवेचन के उपकरणों से मूल्यांकन नहीं हो सकता। किन्तु लोक के संस्कृति-समाज के संदर्भ में अध्ययन हो सकता है।

नाटक के स्वरूप के बारे में सोचे तो भी भील आदिवासी समाज का नाट्य सिर्फ दर्शकों के सामने प्रदर्शित करने का ही नृत्य-नाट्य स्वरूप ही नहीं है, परंतु गाँव के मनुष्यों और पालतू पशुओं में से आधि-व्याधि-उपाधि जैसी बीमारियाँ दूर करने का धार्मिक अनुष्ठान होता है। अतः वह ग्रामीण लोकनाट्य और प्रशिष्ट नाटक से अलग पड़ता है। भीलों के धार्मिक अनुष्ठान और आनुष्ठानिक नाट्य की एक विशेषता यह है कि भोपा द्वारा अभिनित कथा या प्रसंग पर दर्शक समुदाय की आस्था घनिष्ठ होती है। लिखित साहित्यिक नाटकों को ऐसी आस्थामूलक लोकमानस की क्रियाशीलता का लाभ नहीं मिलता। ऐसे नाटक यथार्थ से ज्यादा नजदीक आते हैं। आदिवासियों के आनुष्ठानिक नाटकों और प्रशिष्ट साहित्यिक नाटकों का यह प्रमुख भेद है। यथार्थ और धार्मिक आस्था का यह भेद होने से आदिवासी धार्मिक नाटकों के दर्शकों की संशयहीन समर्पण की भावना का लाभ साहित्यिक नाटकों को नहीं मिलता।

ऐसी सूक्ष्म मानवीय बाबतों के प्रभाव से भील आदिवासी लोकसाहित्य और उसके प्रकार गीत, कथा, नाट्य, लोकाख्यान, लोकमहाकाव्य आदि स्वरूप धारण करते हैं जिसकी आदिवासी लोकसाहित्यशास्त्र में विशद चर्चा की गई है।

भील आदिवासी समाज में प्रचलित लोकगीत, लोककथा, लोकमहाकाव्य, लोकाख्यान आदि लोकसाहित्य सिर्फ जिज्ञासा की तृष्टि करने का या कथा-श्रवण या नृत्य का आनंद प्राप्त करने का साधन ही नहीं है, किन्तु समाज के महत्त्व के व्यवहारों को कार्यशील करने का शक्तिशाली माध्यम है। समाज की वास्तविकता संलग्न इन मौखिक परंपरा का उत्सव, अनुष्ठान और आस्था के साथ घनिष्ठ संबंध है। अतः यह मौखिक परंपरा परिवार और समाज के बीच एकता स्थापित करती है। इस तरह मौखिक परंपरा का महत्त्व का उद्देश्य प्रचलित जीवन-प्रणाली का समर्थन, संवर्धन और संरक्षण है।

यह मौखिक परंपरा उनके लिए कला नहीं है, जीवनामृत है। जीवन रसायन है !